मुक्ति संघर्ष

आनन्दी प्रसाद माथुर

मुक्ति-संघर्ष

मुक्ति-संघर्ष

(स्वतंत्रता-संग्राम की कुछ झाँकियाँ)

लेखक

आनन्दी प्रसाद माथुर

जयश्री प्रकाशन, दिल्ली

स्वागत

'मुक्ति-संघर्ष' में प्रख्यात स्वाधीनता सेनानी और पत्रकार श्री आनन्दी प्रसाद माथुर ने स्वतन्त्रता-संग्राम की विविध उल्लेखनीय घटनाओं की झाँकी बड़ी ही रोचक तथा सरल शैली में प्रस्तुत की है।

लेखक का क्योंकि प्राय: सारे स्वाधीनता-संग्राम से आत्मीय सम्बन्ध रहा है और उसने उसमें बढ़-चढ़कर भाग लिया है, अत: इन झाँकियों में कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं आ पाई।

हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि इन घटनाओं से आबाल-वृद्ध सभी वर्ग के पाठक प्रचुर प्रेरणा और प्रोत्साहन प्राप्त कर सकेंगे। मैं श्री माथुर की इस कृति का हार्दिक स्वागत करते हुए यह आशा तथा विश्वास करता हूँ कि हिन्दी जगत् उनके इस प्रयास को उदारता पूर्वक अपनायेगा।

—क्षेमचन्द्र 'सुमन'

कृतज्ञता-ज्ञापन

इतिहास के बड़े-बड़े ग्रन्थ तो इतिहास के विद्यार्थी पढ़ते हैं लेकिन जनसाधारण में नवीन स्फूर्ति पैदा करने के लिए छोटे-छोटे लेखों का बड़ा महत्त्व होता है।

'मुक्ति-संघर्ष' के निबन्धों में अंग्रेजों से भारत को आजाद कराने के संघर्ष की ऐतिहासिक घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन है। मुझे विश्वास है यह पुस्तक नई पीढ़ी और विशेषकर युवकों को 'मुक्ति-संघर्ष' में किये गये साहसी कार्यों और देशभक्तों की कुर्बानियों के बारे में बहुत कुछ जानकारी देगी। यह पुस्तक देश की एकता, अखंडता और सह-अस्तित्व की भावना को जाग्रत करने में भी सहायक सिद्ध होगी। इसके लिए मुझे जिन पुस्तकों अथवा रचनाओं से सहायता मिली है मैं उनके लेखकों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

मैं अपने मित्र श्री प्रेमनाथ जी चतुर्वेदी (भू० पू० उपप्रधान सम्पादक 'नवभारत टाइम्स'), पद्मश्री आचार्य क्षेमचन्द्र 'सुमन' एवं डॉ० इन्द्र सेंगर का बड़ा आभारी हूं जिनकी प्रेरणा, मार्ग-दर्शन और सहयोग से मेरी यह आठवीं पुस्तक आपके हाथों में पहुँच रही है।

श्रद्धेय 'सुमन' जी को मैं किन शब्दों में धन्यवाद दूं यही मेरी समझ में नहीं आ रहा है। उन्होंने अस्वस्थ होते हुए पलंग पर लेटे-लेटे ही दो शब्द भूमिका के लिखे हैं और इसे पूर्ण कराने में

सहायता की है। यह उनकी उदारता है।

प्रकाशक श्री प्रदीप अग्रवाल तो धन्यवाद के पात्र हैं ही, जिन्होंने इतने थोड़े से समय में इतनी कलात्मक और सुन्दर पुस्तक प्रकाशित की है। इस पुस्तक को तैयार करने में चि० मुनीश कुमार शर्मा ने प्रकाशक से तालमेल बनाए रखने में बड़ी मदद की है। इसलिए मैं उसका भी साधुवाद करता हूँ।

Ph: 2261946

शान्ति निकेतन
सी-2/92 यमुना विहार
दिल्ली-110053

आनन्दी प्रसाद माथुर
(स्वतंत्रता सेनानी)

क्रम

मुक्ति के लिए संघर्ष

सन् 1757 के पलासी युद्ध में मिली पराजय के बाद 1857 की क्रांति को संगठित करने में सौ वर्ष लगे। इस बीच भारतीय राजाओं और नवाबों को अंग्रेजों की धूर्तता का पता अच्छी तरह से लग गया। उन्होंने झूठे वायदे करके भाई-भाई तथा बेटे को बाप के खिलाफ भड़काकर बन्दर बाँट कर राज्य हड़प लिये। इतने वर्षों में जहाँ लोग उनकी कुचालों को समझने लगे थे वहाँ इन सौ वर्षों में अंग्रेजों ने अपने पैर मजबूती से जमा लिये थे।

पैर जमाने के बाद अंग्रेजों ने अपने किये समझौतों और वायदों को तोड़ना शुरू किया। परिणामत: देशभर में अंग्रेजों के खिलाफ घृणा बढ़ गई। अत: आवश्यक हो गया कि इन फिरंगियों को भारत से निकाल बाहर किया जाये।

इसके लिए नाना साहब, ताँत्या टोपे, राजा कुँवर सिंह, महारानी लक्ष्मीबाई तथा दक्षिण भारत के राजा-महाराजाओं ने सैनिक क्रांति की विस्तृत योजना बनाई। इन योजनाओं के अनुसार फौजी छावनी में संकेत-दूत, 'रोटी और कमल का फूल' भेजा गया था।

इस क्रांति के लिए 31 मई 1857 का दिन निश्चित किया गया, लेकिन एक घटना के कारण मेरठ छावनी के सैनिकों ने उतावलेपन से इसका श्रीगणेश 21 दिन पूर्व अर्थात् 10 मई 1857 को ही कर दिया। उस दिन, मेरठ में अंग्रेज़ों का भीषण

नरमेध किया गया। उसके बाद क्रांतिकारी सेनाएं दिल्ली की ओर चल पड़ीं। मेरठ से दिल्ली तक का 40 मील का फासला उन्होंने पलक-झपकते पार कर लिया। 11 मई को प्रातः जब दिल्लीवासी सुबह की ठंडी हवा का आनन्द ले रहे थे, उस समय यह आजादी के दीवाने हिण्डन नदी पार करके 'जय यमुना मैया' का गगनभेदी उद्घोष करते हुए यमुना नदी पार कर रहे थे।

अंग्रेजों ने जब भारतीय सेनाओं की चमकती किर्चों की यह बाढ़ देखी तो उनके छक्के छूट गए। उनमें किसी की हिम्मत नहीं पड़ी कि इस क्रांतिकारी फौज का मुकाबला करें। अतः यह फौज आसानी से दरियागंज तक जा पहुंची। इन बहादुर सिपाहियों ने लाल किले में पहुँचकर दीवाने-आम के सामने अपने घोड़े बाँधे तथा किले पर से अंग्रेजों का झंडा यूनियन जैक उतारकर आजादी का हरा झंडा फहरा दिया। इस तरह से 11 मई से 20 सितम्बर तक का समय भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में स्वर्ण-अक्षरों में लिखे जाने योग्य बन गया। इन दिनों लाल किला मैगजीन, सेन्ट जेम्स चर्च, मेटकाफ हाउस, फ्लैग हाउस, हिन्दूराव महल, हुमायूं का मकबरा, खूनी दरवाज तथा कश्मीरी गेट आदि स्थल इतिहास के महत्त्वपूर्ण अंग बना गये। ये सभी स्थल आज भी देश के नौजवानों को देश पर मर-मिटने वालों की दास्तान अपनी मूक भाषा में सुना रहे हैं।

लाल किले पर आजादी का झण्डा फहराने की खबर सुनकर समूचे देश में खुशी की लहर दौड़ गई और अनेक स्वतंत्रता-प्रेमी प्रशासक उत्साहित होकर दिल्ली आ पहुँचे। तीस हजार से अधिक क्रांतिकारी सैनिकों ने दिल्ली की सुरक्षा के लिए चारों तरफ सुदृढ़ मोर्चेबन्दी कर ली।

अगले दिन एक अंग्रेज तारबाबू ने अम्बाला छावनी तथा ब्रिटिश कमांडर-इन-चीफ (शिमला) को इसकी सूचना दे दी।

यह समाचार सुनते ही क्रुद्ध भारतीयों ने उस डाकखाने को जला दिया। लेकिन खबर तो भेजी जा चुकी थी।

इस हार की सूचना पाते ही अंग्रेजी फौजें कुछ तो मेरठ के रास्ते और कुछ भारी तोपखाने के साथ गुड़गाँव, रोहतक तथा करनाल के रास्ते में दिल्ली की ओर चल पड़ीं; लेकिन क्रांतिकारियों की तोपों तथा छापामार दस्तों के आक्रमणों से अंग्रेजी फ़ौजों के पैर उखड़ने लगे।

14 सितम्बर 1857 को प्रातः अंग्रेजों ने लुडलो केसिल की तरफ से कश्मीरी गेट पर जबर्दस्त हमला किया, लेकिन भारतीय फौजों की भीषण अग्नि-वर्षा से अलीपुर रोड ब्रिटिश सेना के हताहतों से पट गई। सुबह से शाम तक भीषण युद्ध होता रहा, लेकिन अंग्रेजों को दिल्ली की चारदीवारी तक आने में सफलता नहीं मिली।

देश में जहाँ आजादी के लिए मर-मिटने वाले बहादुर देशभक्त थे वहीं चाँदी के चन्द टुकड़ों पर अपना ईमान और देश की आजादी बेचने वाले गद्दारों की भी कमी नहीं थी। उसी दिन शाम के झुटपुटे में कुछ गद्दारों ने कश्मीरी गेट के पास की दीवार को विस्फोट से उड़ा दिया। इस धमाके के साथ अंग्रेजी सिपाही अन्दर दाखिल हो गये। कश्मीरी गेट के तोपखाने पर कब्जा कर लिया फिर भी क्रांतिकारी फौजों तथा दिल्ली की जनता ने मिलकर इन फिरंगियों का डटकर मुकाबला किया; जिसकी वजह से अंग्रेजी फौजों को लाल किले तक पहुँचने में एक सप्ताह लगा और इस तरह 20 सितम्बर को अंग्रेजों ने दिल्ली पर पुनः अधिकार जमा लिया।

दिल्ली के अन्तिम मुगल बादशाह अपने शाहजादों और बेगमों के साथ लाल किले से निकलकर हुमायूँ के मकबरे में चले गये, लेकिन गद्दारों की सहायता से मेजर हडसन ने उन्हें

गिरफ्तार कर लिया। उनके तीनों शाहजादों के शव को जनता को सबक सिखाने की गरज से चाँदनी चौक में कोतवाली के सामने पेड़ से लटका दिया गया था।

अंग्रेजों ने आजादी के लिए लड़े गए इस महायुद्ध को सैनिक-विद्रोह और गदर कहा, जबकि यह एक राष्ट्रीय संकल्प का युद्ध था। यह युद्ध अमरीकन जनता द्वारा अंग्रेजों की गुलामी से छुटकारा पाने वाले युद्ध से कम नहीं था। जब आस्ट्रेलिया-इटली-युद्ध को इतिहास में आजादी की लड़ाई कहा गया है तब इसे गदर कहकर भारतीयों की राष्ट्रीय भावना को न पनपने देने की चाल चली गई थी।

1857 का युद्ध मामूली 'सिपाही विद्रोह' नहीं था बल्कि आजादी के लिए लड़ा गया 'स्वाधीनता संग्राम' था।

सैनिक क्रांति की असफलता ने देश के वातावरण को क्षुब्ध कर दिया। लोगों के मन पर एक अजीब प्रकार का आतंक छा गया। गुलामी की जंजीरें और मजबूत हो गईं। ऐसी स्थिति में जनता को निराशा के अन्धकार से निकालने के लिए कुछ संस्थाएँ बनीं, जिनमें ब्रह्म समाज, आर्य समाज तथा थियोसोफिकल सोसायटी प्रमुख थीं। इनकी गतिविधियाँ मुख्यत: समाज-सुधार तक सीमित थीं।

उसी समय इटावा (उत्तर प्रदेश) के अंग्रेज कलैक्टर ह्यूम ने भी एक संस्था बनाई, जिसका उद्देश्य भारतीयों के असन्तोष की जानकारी हासिल करना तथा उन्हें दम दिलासा देते रहना था। इस संस्था का पहला अधिवेशन 28 दिसम्बर 1885 को बम्बई में हुआ जिसमें देशभर से केवल 72 प्रतिनिधि पहुँचे। इन सूट-बूट-धारियों ने बड़े लचीले 9 प्रस्ताव पास किए। इन प्रस्तावों में अंग्रेजों का गुण-गान और कुछ अच्छी नौकरियाँ पाने के लिए आशा व्यक्त की थी। कितने ही वर्षों तक इस संस्था के लोग साल

में एक बार किसी स्थान पर मिलते और पिछले प्रस्तावों को ही दोहराकर वापस चले जाते थे।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया संस्था का क्षेत्र और शक्ति बढ़ती गई। सन् 1905 में जब देश की एकता और राष्ट्रीयता को खण्डित करने के लिए अंग्रेजों ने बंगाल के टुकड़े करने चाहे तो समूचे देश में विद्रोह की आग पुनः भड़कने लगी। देश भर में इसके खिलाफ हड़तालें, जलूस और सभाएं हुईं। इसी समय पंजाब से लाला लाजपतराय, महाराष्ट्र से बालगंगाधर तिलक, और बंगाल के नेता विपिनचन्द्र पाल की आवाज देश में गूँजने लगी। जनता 'बाल-पाल-लाल' के नारे लगाने लगी। इस जागृति से संस्था में दो विचार-धाराएँ काम करने लगीं, जिससे एक नरम और दूसरा गरम दल कहलाया। इसी संस्था का नाम 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' था। इस समय स्वदेशी आन्दोलन आरम्भ हो गया था। इस आन्दोलन तथा 'बन्दे-मातरम्' के नारों ने अंग्रेजों की नींद हराम कर दी थी।

सन् 1919 में गांधी जी ने बागडोर सम्भाली। अब यह संस्था (कांग्रेस) कुछ अंग्रेजी पढ़े-लिखे सूट-बूट-धारियों की जेब से निकलकर जनता के बीच जा पहुँची। जलियान वाला बाग कांड ने तो आजादी का मार्ग प्रशस्त कर दिया। देश की इस बदलती स्थिति का जायजा लेने और झूठी दम दिलासा देने के लिए साइमन कमीशन भारत आया, लेकिन भारतीयों का विश्वास उठ चुका था इसलिए इसका बायकाट किया गया। अंग्रेजों ने प्रथम विश्व युद्ध के समय बड़े-बड़े वायदे करके भारतीय जन और धन का खुलकर उपयोग किया था, लेकिन युद्ध की समाप्ति पर जनता को कुछ सुविधाएं देने के बजाय स्वतंत्रता-हनन का कानून 'रोलट-एक्ट' प्रदान किया। अंग्रेजों की इस कुटिल नीति और दमन के कारण कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में, जो

सन् 1929 में जवाहरलाल जी की अध्यक्षता में हुआ था, पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने की घोषणा की गई। इस पर विचार करने के लिए अंग्रेजों को एक वर्ष का समय दिया गया। लेकिन कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला। नतीजा यह हुआ कि सन् 1930 में सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू हो गया। अप्रैल में गांधी जी ने डाण्डी यात्रा कर 'नमक कानून' तोड़ा। इस आन्दोलन में लोगों ने स्वेच्छा से गोलियाँ खाईं, तरह-तरह की यातनाएँ भोगीं। गांधी-इर्विन-पेक्ट होने पर यह आन्दोलन रोक दिया गया। अंग्रेज इस जागरूकता से घबरा गये थे। अतः उन्होंने 1935 में 'गवर्नमैंट ऑफ इण्डिया एक्ट' बनाकर कुछ सहूलियतें दीं। इसके अनुसार देश में चुनाव हुए जिसमें ग्यारह में से सात सूबों में कांग्रेस को बहुमत प्राप्त हो गया। अतः मन्त्रि-मण्डलों का गठन किया गया।

लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध के समय 1939 में बिना भारतीय जनता से पूछे ही देश को युद्ध में भागीदार बना दिया। परिणामतः कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने त्याग-पत्र दे दिये और व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू हो गया। उधर सुभाष बाबू ने भी जियाउद्दीन के रूप में देश से बाहर जाने में सफलता प्राप्त कर 'आजाद हिन्द फौज' खड़ी कर ली। इस फौज ने दिल्ली कूच आरम्भ कर दिया। इससे भारत की जनता में उल्लास तथा आत्मविश्वास पैदा हो गया। सन् 1942 का अगस्त आन्दोलन आजादी की लड़ाई का अन्तिम मोर्चा सिद्ध हुआ। 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' तथा 'करो या मरो' के सिंहनाद से अंग्रेज थर्रा गये।

एक अंग्रेज द्वारा बनाई गई मामूली-सी संस्था ने धीरे-धीरे महान् संगठन का रूप धारण कर लिया। इसके महान बनने में अन्दरूनी तथा बाहरी कठिनाइयाँ तो आईं, लेकिन यह अपनी पहली मंजिल स्वतंत्रता-प्राप्ति तक पहुँच गई। 1947 को पन्द्रह

अगस्त को लाल किले पर तिरंगा झण्डा फहराने लगा। अंग्रेजों ने भारत को छोड़ा, लेकिन 'बिल्ली खाये नहीं, तो ढुलका दे' वाली कहावत के अनुसार देश के दो टुकड़े करा दिए। आगे भी चैन से न बैठने के बीज बो दिए, अतः आज आजाद देश की जनता, कार्यकर्ता एवं नेताओं के सामने भारी चुनौती है। उन्हें आजादी की रक्षा और अखण्डता के लिए संगठित होकर प्रयास करना होगा। अभी देश के लिए और कुर्बानी की जरूरत है।

मील का पत्थर : जलियान वाला बाग

सन् 1919 में कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में करने का निश्चय किया गया लेकिन पंजाब का गवर्नर माइकेल ओ डायर पंजाब में कांग्रेस की प्रवृत्ति को नहीं बढ़ने देना चाहता था इसलिए उसके इशारे पर अमृतसर के डिप्टी कमिश्नर माइकल्स इर्विन ने डाक्टर किचलू तथा डाक्टर सत्यपाल को, जो वहां कांग्रेस के संगठनकर्ता थे, 10 अप्रैल को प्रातः अपने बंगले पर बुलाकर गिरफ्तार कर अज्ञात स्थान को भेज दिया। इस खबर को सुनते ही नगर के कुछ प्रमुख व्यक्तियों ने इन लोगों के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए डिप्टी कमिश्नर के बंगले पर जाने का निश्चय किया लेकिन सिविल लाइन के चौराहे पर पहुँचते ही पुलिस ने इनको तितर-बितर करने के लिए लाठियां और गोलियाँ चला दीं।

इस गोली-काण्ड में दो-तीन व्यक्ति मरे तथा बहुत से घायल हो गए। जनता ने घायलों को खाट पर तथा मृतकों की टिकटी बनाकर जुलूस निकाला। इन निहत्थे और बेगुनाह लोगों पर लाठी व गोली मारने की बात सुनकर लोगों का खून खौल उठा। उन्होंने पंजाब नेशनल बैंक की इमारत को आग लगा दी, उसके मैनेजर तथा पाँच अन्य अंग्रेजों को मौत के घाट उतार दिया।

इस घटना से स्थानीय प्रशासन घबरा गया। उसने बिना उच्च अधिकारियों का आदेश लिये ही शहर को फौज के हवाले

कर दिया। इसकी सूचना शहर में उच्च अधिकारियों ने पाँच दिन के बाद 15 अप्रैल को दी।

जिस समय सन् 1914 में प्रथम विश्व युद्ध छिड़ा था तो अंग्रेजों ने भारतीय नेताओं से वायदा किया था कि युद्ध के समाप्त होते ही हिन्दुस्तान को आजाद कर दिया जायगा। इस आशा से गांधी जी ने युद्ध में अंग्रेजों की सहायता करने का निश्चय किया था। लेकिन युद्ध के खत्म होने पर आजादी के बजाय फरवरी 1919 में दमनकारी 'रौलट एक्ट' पेश करने का फैसला किया। जिसका उद्देश्य भारत रक्षा कानून के खत्म होने पर भी हिन्दुस्तान पर अंग्रेजों का काबू बना रहे।

अंग्रेजों की इस धूर्तता से गांधी जी को बहुत दुःख हुआ और उन्होंने इसका विरोध करने के लिए 30 मार्च का दिन 'विरोध दिवस' के रूप में मनाने का निश्चय किया। गांधी जी ने उस दिन देश भर में पूर्ण हड़ताल रखने तथा प्रभातफेरियाँ, उपवास, प्रार्थनाएँ, जलूस तथा सभाएँ करके जनता में राष्ट्रीय चेतना पैदा करने का कार्यक्रम बनाया। लेकिन किन्हीं कारणों से इस 'विरोध दिवस' की तारीख 30 मार्च से बदल कर 6 अप्रैल कर दी गई थी।

चूंकि दिल्ली में 6 अप्रैल की सूचना विलम्ब से मिली इसलिए दिल्ली में 'विरोध दिवस' 30 मार्च को ही मनाया गया। उस दिन शहर में पूर्ण हड़ताल रही, लोगों ने उपवास रखे और प्रार्थनाएँ कीं तथा शाम को एक भारी जलूस निकाला, जिसका नेतृत्व स्वामी श्रद्धानन्द जी ने किया। जिस समय यह शान्ति जलूस चाँदनी चौक से होकर गुजर रहा था तो गोरे सिपाहियों ने बन्दूक दिखाकर गोली मारने की धमकी दी। इस पर स्वामीजी सीना तानकर उनके सामने खड़े होकर बोले—"लो मारो गोली।" गोरे सिपाही स्वामी जी की इस निडरता और साहस

को देखकर दंग रह गए।

अप्रैल के दूसरे सप्ताह में परम्परानुसार 13 अप्रैल बैशाखी का पर्व तथा नव संवत्सर का दिन था। उसी दिन गुरु गोबिन्द-सिंह जी ने खालसा पंथ को जन्म दिया था अतः उस दिन अमृतसर में बाहर से काफी श्रद्धालु लोग शहर में आये हुए थे। उस दिन घनी आबादी के बीच स्थित 'जलियाँ वाला बाग' में एक सभा का आयोजन किया गया। कहा जाता है कि यह आयोजन अंग्रेजों के एक गुर्गे हंसराज नामक व्यक्ति ने किसी सुनियोजित षड्यंत्र के तहत किया था। यह स्थान चारों ओर से ऊँचे-ऊँचे मकानों से घिरा हुआ था इस पार्क में आने-जाने का सिर्फ एक ही तीन-चार फुट का छोटा-सा रास्ता था। इस सभा में बीस हजार से अधिक बूढ़े-बच्चे तथा स्त्री-पुरुष एकत्रित थे। ठीक उसी समय जनरल डायर ने चारों तरफ से इस पार्क को घेर लिया और बिना कोई वार्निंग दिये अपनी फौज को गोलियाँ चलाने का हुक्म दे दिया। यह अन्धाधुन्ध गोलियाँ उस समय तक चलती रहीं जब तक फौजियों के कारतूस खत्म नहीं हो गए। उन्होंने 1600 (सोलह सौ) बार गोलियाँ चलाईं। जनरल डायर अपने साथ हथियारों से भरी बड़ी फौजी गाड़ियाँ भी लाया था लेकिन चूँकि रास्ता तंग था इस कारण उन गाड़ियों को पार्क से दूर सड़क पर ही रोकना पड़ा था।

इस काण्ड में बारह सौ (1200) से अधिक लोग मरे तथा पाँच हजार से अधिक घायल हुए थे। मृतकों तथा घायलों को रातभर उसी पार्क में डाले रखा जहाँ डाक्टरी सहायता तो दूर प्यास से तड़पते लोगों को पानी तक नहीं पहुँचने दिया।

लेकिन जब एक बहादुर साहसी स्वयं सेवक, जिसका नाम ऊधम सिंह था वहाँ घायलों की सहायता तथा लाशों के ढेर में से रत्ना देवी के पति की लाश खोजने पहुँचा तो उसे भी गोली का

निशाना बनाया, लेकिन उस युवक ने अपनी बाँह में लगे छर्रे की परवाह नहीं की और रत्ना देवी के पति की लाश को अपनी पीठ पर लाद कर बाहर ले आया। उस समय अंग्रेजों की इस क्रूरता से ऊधमसिंह का खून खोल उठा और उसने खून से सनी मिट्टी को हाथ में लेकर इस अपमान का बदला लेने की प्रतिज्ञा कर ली। उसने 21 वर्ष बाद लंदन पहुँचकर (13 मार्च 1940) ओ डायर को एक सभा में गोली से मारकर बदला ले लिया। इस जुर्म में ऊधमसिंह को 31 जुलाई 1940 को फाँसी दे दी गई। इस तरह पंजाब का बहादुर नौजवान शहीद हो गया।

जलियाँ वाला बाग में हुए इस नृशंस हत्याकाण्ड की जाँच के लिए अंग्रेजों की तरफ से हंटर कमेटी बनी जिनके सामने उस क्रूर डायर ने बड़े फक्र के साथ कहा कि—"मैंने गोली चलाकर भय प्रदर्शन नहीं किया बल्कि हिन्दुस्तानियों को एक ऐसा सबक सिखाने के लिए भयानक कर्तव्य का पालन किया जिससे वह फिर गर्दन न उठा सकें। मैं तो गोली चलाना जारी रखता लेकिन कारतूस खतम हो गए थे।"

इसके अतिरिक्त अंग्रेज प्रशासकों ने दो महीने का कर्फ्यू लगाकर समूचे अमृतसर शहर का बिजली, पानी बन्द कर दिया, जगह-जगह कोड़ों की सजा देने के लिए चबूतरे बनवाये गए जिन पर खड़ा करके प्रमुख व्यक्तियों को सबके सामने कोड़े लगाये गए तथा पेट के बल लेटकर चलवाया गया। वहाँ के रहने वालों की साइकिलें, मोटरें, मोटर साइकिलें तथा बिजली के पंखे आदि फौजी अफसरों ने अपने कब्जे में कर लिए। जब कुछ लोग शहर छोड़कर अन्य स्थानों को जाने लगे तो स्टेशन पर तीसरे दर्जे की बुकिंग बन्द करवा दी। इस अमानुषिक अत्याचारों की एक प्रतिक्रिया हुई कि आस-पास के इलाकों में भी जनता में अंग्रेजी सरकार के खिलाफ विद्रोह की भावना तेजी से फैल गई।

इस तरह से देश की आजादी के लिए हजारों ने अपना रक्त बहाकर आजादी का मार्ग प्रशस्त कर दिया। यह 'जलियाँ वाला बाग काण्ड' आजादी के लिए मील का पत्थर बन गया।

जनरल डायर द्वारा किये गए नृशंस कृत्य को पंजाब के गवर्नर माइकल ओ डायर ने उचित और आवश्यक ठहराया जबकि अंग्रेजों द्वारा बनाई हंटर जांच कमेटी तथा कांग्रेस द्वारा बनाई नेहरू कमेटी ने इसका दोषी जनरल डायर को ठहराया। ब्रिटिश पार्लियामेंट ने भी जनरल डायर को दोषी माना, लेकिन सरकार ने अपनी क्रूरता को उचित ठहराते हुए वहाँ राज-विद्रोह का मामला बनाकर 108 लोगों को फाँसी की सजा दी तथा 264 को आजीवन कारावास की सजा दी।

कहाँ गये वे लोग

देश की आजादी किसी एक परिवार, जाति, दल, संस्थान अथवा धर्म के द्वारा प्राप्त नहीं हुई; बल्कि इसे प्राप्त करने में विभिन्न सम्प्रदायों के असंख्य लोगों ने कुर्बानी दी है।

एक ओर जहाँ क्रांतिकारियों ने पिस्तौल और बमों का सहारा लिया वहीं दूसरी ओर अहिंसक आन्दोलनों ने देश की कोटि-कोटि जनता में आज़ादी की तड़प पैदा की थी। आजाद हिन्द फौज ने भी अपनी बहादुरी दिखाकर अंग्रेजों को कुछ सोचने के लिए विवश किया था। स्वदेशी आन्दोलन तथा अन्तिम 'भारत छोड़ो' एवं 'करो या मरो' के नारों से भी अंग्रेजों की हिम्मत पस्त हो गई थी।

आजादी हासिल करने में 1946 की समुन्द्री बेड़े की हड़ताल की भूमिका भी कम महत्त्व की नहीं थी।

इस तरह से भारत की गुलामी की जंजीरों को तोड़ने में विभिन्न प्रकार की चोटें पड़ी थीं। भले ही इसका श्रेय सन् 42 के जन-आन्दोलन की चोट को मिला लेकिन अन्य चोटों को भी नकारा नहीं जा सकता है।

जब सन् 1857 की क्रांति के असफल होने से देश में निराशा छा गई, तब 1885 में केवल वैधानिक सुधारों की माँग करने के लिए कांग्रेस की स्थापना की गई थी। कुछ समय बाद लोकमान्य तिलक, विपनचन्द्र पाल तथा लाला लाजपतराय-जैसे नेताओं के

राजनीतिक मंच पर आने से कांग्रेस का 'भिक्षां देहि' युग समाप्त हो गया। इसके बाद अंग्रेजों द्वारा तिलक की गिरफ्तारी तथा राष्ट्रीय भावना को कुचलने के उद्देश्य से 'बंग-भंग' की नीति के कारण भारत की जनता में नई जागृति पैदा हो गई। देशभर में सभाओं, जलूसों, हड़तालों एवं स्वदेशी प्रचार जोरों से होने लगा। यह देखकर अंग्रेज घबरा गए। उन्होंने प्रथम विश्व युद्ध (1914) में सहायता देने के लिए भारतीय नेताओं से तरह-तरह के वायदे किये। लेकिन जब युद्ध समाप्त हुआ तो भारत के द्वारा की गई धन और जन की सहायता के वदले में एक काला कानून 'रौलट-एक्ट' पेश कर दिया। अंग्रेजों का इस कुचाल से देश-भर में भारी रोष फैल गया। युवकों का तो खून खौलने लगा। बंगाल के बाद उत्तर प्रदेश में भी क्रांतिकारियों की गतिविधियां बढ़ने लगीं। 'वाराणसी षड्यन्त्र केस' के बाद ही मैनपुरी में 'मातृवेदी संस्था' का गठन हो गया।

इस संस्था का उद्देश्य किसी भी तरह से फिरंगियों को देश से बाहर करना था। क्रांतिकारी अपने कल्पित नामों से गुप्त रूप से कार्य करते थे। इसकी शाखाएँ लखनऊ, आगरा, शाहजहांपुर, मथुरा, कानपुर, इटावा तथा मुरादाबाद आदि अनेक जिलों में कार्य करती थीं। इसके अन्तर्गत 500 घुड़सवार, 200 पैदल सैनिक तथा 8 लाख से अधिक की सम्पत्ति हो गई थी। इसमें काम करने वालों को शुरू में कड़ी परीक्षाओं में से गुजरना होता था, पूरा विश्वास होने पर ही 'समर्पण-पत्र' भरवाया जाता था।

शाहजहाँपुर शाखा के इन्चार्ज सुविख्यात क्रांतिकारी रामप्रसाद बिस्मिल थे तथा मैनपुरी के इन्चार्ज श्री शिवकृष्ण अग्रवाल थे। इन सब शाखाओं को एक सूत्र में बाँधने वाले कमांडर-इन-चीफ बटेश्वर जिला आगरा के रहने वाले

श्री गेंदालाल दीक्षित थे।

शिवकृष्ण जब अपने कस्बे (बरनाहल) से पढ़ने मैनपुरी आये तो उनका परिचय 'मातृवेदी संस्था' के कार्यकर्ताओं से हुआ। इनके मन में भी देश के लिए कुछ करने की इच्छा जागृत हुई। इन्होंने सूझ-बूझ और साहस से कार्य करके समूचे जिले की बागडोर सम्भाल ली। यह संस्था चार भागों में विभक्त होकर अपना कार्य करती थी। लेकिन तब ही मैनपुरी के एक बड़े जमींदार के लड़के ने मुखबरी कर दी। परिणामतः अधिकांश कार्यकर्ता पकड़े गये। यह क्रांतिकारियों के इतिहास में 'मैनपुरी षड्यन्त्र केस' के नाम से मशहूर हुआ।

इन पकड़े गए क्रांतिकारियों को दस महीने तक हिरासत में रखकर तरह-तरह की यातनाएँ दी गईं लेकिन इन्होंने अन्य साथियों के बारे में कुछ नहीं बताया। जब दस महीने हवालात में रहने के बाद इन पर मुकदमा चलना शुरू हुआ तो तीसरे दिन ही शिवकृष्ण हवालात के सीखचों को काट मैनपुरी जेल की दीवार फाँदकर फरार हो गए। पुलिस ने इनकी काफी खोज की लेकिन कहीं पता नहीं लगा। लोगों का विश्वास था कि वे जेल से बाहर रहकर भी संगठन का कार्य करते रहे थे।

जब सन् 1942 में मैं मैनपुरी जेल से छूटा तो सन् 1942 की घटनाओं को एकत्रित करके आन्दोलन का इतिहास लिखने का भार मुझे सौंपा गया। इस सिलसिले में जब मैं बरनाहल पहुँचा तो मुझे आश्चर्य हुआ कि शिवकृष्ण जी के घर वाले उस समय यह आशा लगाये हुए थे कि वह अवश्य आयेंगे।

नेता जी के गायब होने के बारे में तो आज तक भी तरह-तरह की खबरें छपती रहती हैं लेकिन ऐसे कितने ही आजादी के दीवाने हैं जो भूमिगत रहकर कार्य करते रहे और हमेशा के लिए गुम हो गए। देश की जनता के दिमाग में आज भी यह प्रश्न

उठता है कि आखिर कहाँ गए वे लोग।

फाँसी और गोलीं खाकर हजारों-लाखों लोग अपना नाम शहीदों की सूची में लिखा गए, लेकिन ऐसे 'जीवित शहीदों' की भी संख्या कम नहीं रही थी जिन्होंने भूमिगत रहकर तरह-तरह के कष्ट सहे हैं।

बैसाखी का त्यौहार

पुरानी मान्यता है कि आज के दिन देवताओं ने सागर मन्थन करके अमृत प्राप्त किया था और शिव ने हलाहल पीकर संसार की रक्षा का बीड़ा उठाया था, जिसकी वजह से वे नीलकंठ कहलाये थे।

आज के दिन राजा विक्रमादित्य ने विक्रमी सम्वत् का शुभारम्भ किया था, आज के ही दिन महान योद्धा राष्ट्र निर्माता साहित्यकार, कवि, समाज-सुधारक, सिखों के दसवें गुरु गोबिन्द-सिंह ने भारतीय संस्कृति की रक्षार्थ एकता कायम करने के लिए 'खालसा पन्थ' का श्रीगणेश किया था। इसीलिए यह दिवस धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से महत्त्व का दिन बन गया है।

आज का यह नव सम्वत्सर का दिवस बड़े उल्लास का दिन होता है क्योंकि इस महीने में किसान अपनी कड़ी मेहनत को खेतों तथा खलिहानों में फूलता-फलता देखता है। आज के दिन उत्तर भारत और विशेषकर पंजाब और हरियाणा में बैसाखी पर्व बड़ी धूम-धाम से मनाते हैं। उस दिन मेले, तमाशे और तरह-तरह के उत्सव होते हैं जिसमें लोग मस्ती से 'भंगड़ा' तथा लड़कियों का 'झूमर डांस' का आनन्द लेते हैं।

इसी पखवाड़े में लोग महाशक्ति भगवती माता दुर्गा की पूजा बड़े विधि-विधान से करते हैं। नवरात्रि के दिनों में लोग

उपवास करते हैं तथा देवी के मन्दिर में जाकर भजन, पूजन, कीर्तन तथा जगराता आदि करते हैं। बहुत से लोग इन दिनों धरती पर सोते हैं तथा नाखून और बाल न कटवा कर तप और त्याग का जीवन व्यतीत करते हैं।

सत्रहवीं शताब्दी में देश की जनता का मनोबल पूरी तरह से गिर चुका था। वह बादशाहों के जुल्मों से पिस रही थी। अतः गुरु गोबिन्द सिंह ने इस बाहरी पूजा-पाठ के बजाये लोगों की अन्दर की सोई हुई शक्ति को जगाने के लिए स्वयं देवी की आराधना की और उसका आशीर्वाद एवं तलवार लेकर अपने मिशन पर निकल पड़े।

उस बैसाखी के दिन (1699) जब आनन्दपुर साहब के मैदान में कलम और तलवार के धनी 'सन्त सिपाही' के दर्शनों के लिए लोग बड़ी संख्या में एकत्रित थे, उस समय गुरु गोबिन्द सिंह हाथ में नंगी तलवार लिये मंच पर पहुँचकर कड़कती आवाज में बोले कि, "आज मुझे कुछ सिरों की जरूरत है, जो गुरु का प्यारा हो आगे आ जाये।"

लोग उनकी लाल आँखें और नंगी तलवार देखकर घबरा गये। कुछ लोग वहाँ से खिसकने लगे। तब ही एक व्यक्ति, जो लाहौर का रहने वाला (खत्री दयाराम) था, मंच के सामने आ पहुँचा। गुरु जी उसे तम्बू में ले गए और अगले क्षण खून से सनी तलवार लेकर मंच पर आ पहुँचे। उन्होंने मंच से फिर आह्वान किया। खून से सनी तलवार देखकर अच्छे-अच्छों के छक्के छूट गये। बहुत से लोग वहाँ से भाग खड़े हुए। लेकिन रोहतक का जाट धर्मदास, द्वारिका का धोबी मोहकमचन्द, जगन्नाथपुरी का हिम्मत तथा बीदर का नाई साहब चन्द बारी-बारी से मंच के सामने पहुँचते गए और उन्हें गुरु जी तम्बू में ले जाते रहे।

वास्तव में गुरु जी ने इन पाँचों व्यक्तियों के नाम पर बकरियों

की बलि चढ़ाई थी जिनके खून से तलवार लाल हो रही थी। इन सब आहूतियों के बाद पाँच व्यक्तियों को पूरी तरह से तैयार करके मंच पर लाया गया। वहाँ पांचों लोगों के नाम के आगे सिंह लगाया गया और गुरु जी ने स्वयं भी अपने नाम के आगे गोबिन्द राम की जगह गोबिन्द सिंह लगा लिया। इन्हीं पाँचों बहादुरों को 'पंच प्यारे' कहा गया और इस रस्म को 'खालसा' (खालिस) कहा गया, जो आगे खालसा पन्थ कहलाने लगा।

'पंच प्यारों' को अमृत छकाने के बाद गुरु जी ने उनके हाथ से स्वयं अमृत ग्रहण किया। इस समय गुरु गोबिन्द सिंह जी ने घोषणा की कि अब आगे से हाड़-मांस का गुरु नहीं होगा बल्कि गुरु की बाणी 'ग्रन्थ साहब' पथ-प्रदर्शन करेगा। उन्होंने इस दल के पांच चिह्न कंघा, कच्छा, कड़ा, केश और कृपाण निर्धारित किये साथ ही यह ताकीद की कि प्रत्येक खालसा मांस, मदिरा और धूम्रपान से परहेज करेगा लेकिन यदि कोई मांस खाना चाहे तो वह झटके का खा सकता है। खालसा का मुख्य कार्य 'मजलूमों' की रक्षा करना होगा तथा वह स्त्रियों की भी रक्षा करेगा चाहे वह किसी भी जाति या धर्म की क्यों न हो।

उस समारोह में 'पंच प्यारों' के अतिरिक्त लगभग 80 हजार लोगों ने अमृत-पान किया, जो गुरु जी के सिख कहलाये। इसी अवसर पर प्रत्येक हिन्दू परिवार से एक या दो व्यक्ति आकर इस महान कार्य को पूरा करने में शामिल हो गए। इस तरह से मिल-जुलकर भारतीय संस्कृति और हिन्दू धर्म की रक्षा की गई।

कहते हैं बैसाखी के दिन नदियों का जल अमृत हो जाता है लेकिन अमृतसर में 1919 में बैसाखी के दिन ही अंग्रेज सरकार ने जलियाँ वाला बाग में अपनी काली करतूतों से वहाँ की पवित्र भूमि को रक्तरंजित कर दिया। वहाँ उन्होंने चन्द मिनटों में ही

सैकड़ों बेगुनाहों को बन्दूक की गोलियों से भून दिया था।

आज उस पावन और उल्लास भरे पर्व पर, जो हमें अपनी प्राचीन संस्कृति और भाई-चारे के सिद्धान्त की रक्षा के लिए प्रेरित कर रहा है, हम अपने उन शहीदों को श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं जिनके खून की एक-एक बूंद ने आजादी की बुनियाद को मजबूत बनाने में सहायता दी थी।

कागज में लिपटा शोला

हिन्दुस्तान पर पूरी तरह से कब्जा करने के बाद अंग्रेज सरकार भारत के राजाओं-महाराजाओं की अपेक्षा यहाँ से निकलने वाले अखबारों से घबराने लगी थी। अखबार को वह कागज में लिपटा आग का ऐसा शोला समझती जो किसी समय कुछ भी कर सकता था। अतः अंग्रेजों ने अखबारों को कुचलने के लिए तरह-तरह की कोशिशें की, लेकिन वही मसल हुई कि 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।'

1857 की अमर क्रांति के समय पहला अखबार नाना धन्धू पंत के मंत्री और वकील अजीमुल्ला ने 'पयामे आजादी' निकालने की प्रेरणा दी। अजीमुल्ला नाना साहब की पेंशन का केस लेकर इंग्लैंड गये थे। वहाँ उन्हें अंग्रेजों की नीयत और हरकतों का कड़ुवा अनुभव हुआ था इसलिए अंग्रेजों की असलियत बताने के लिए उन्होंने अखबार निकाला। इसका सम्पादन बहादुरशाह के पौत्र करते थे। इसके हिन्दी, फारसी, उर्दू के संस्करण दिल्ली से निकले और मराठी का झांसी से प्रकाशित हुआ। इस अखबार ने जनता में अंग्रेजों के प्रति इतनी घृणा पैदा कर दी कि उन्होंने गुस्से में आकर संपादक केदार बख्त के शरीर पर सूअर की चर्बी मलकर गोली मार दी। इतना ही नहीं बल्कि जिसके यहां भी यह अखबार पाया गया उसे भी फाँसी पर लटका दिया गया था।

उसी समय दिल्ली से 'सादिकुल' निकला। सरकार ने उसे भी जब्त कर दिया। इससे पहले कलकत्ता से निकलने वाले हिन्दी दैनिक 'सुधा वर्षण' को भी लार्ड डलहौजी की आलोचना करने के जुर्म में जब्त कर लिया गया था। अंग्रेजों के काले कारनामों का पर्दाफाश करने में अब अंग्रेजी अखबार भी आगे बढ़ने लगे थे। एक अखबार जब्त होता तो दूसरा निकलने लगता। अतः उन्होंने अखबारों का मुँह बन्द करने के लिए ताजीरात हिन्द में दफा 124 राज विद्रोह की धारा जोड़ दी जिससे हर समय संपादकों के सिर पर नंगी तलवार लटकने लगी इसके बावजूद भी बम्बई के 'इन्दू' प्रकाशन ने अंग्रेजों के खिलाफ खूब धूम मचाई।

इसके बाद लोकमान्य तिलक के 'मराठा' और 'केसरी' ने अंग्रेजों की धज्जियाँ उड़ानी शुरू कर दीं। उन पर राज विद्रोह का मामला चलाकर डेढ़ वर्ष की सजा दे दी। 1908 में खुदीराम बोस की शहादत की प्रार्थना करने के जुर्म में 6 वर्ष की सजा देकर माण्डले जेल में डाल दिया। उधर कलकत्ता के अखबार भी आग उगलने लगे। विपिनचन्द्र पाल के संपादकत्व में 'बन्दे मातरम्' निकला, अरविन्द बोस ने 'कर्मयोगी' निकाला, भूपेन्द्र नाथ ने 'युगान्तर' निकाला, ब्रह्मबान्धव ने 'सन्ध्या' नामक पत्र निकाला।

'सोनार बंगला' नामक अखबार ने तो मेदिनीपुर के मेले में तूफान मचा दिया। अखबार बेचने वाला चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा था "पढ़ो-पढ़ो अंग्रेजों ने बंगाल के दो टुकड़े कर दिए" यह अखबार बेचने वाला खुदीराम बोस था उस समय तो उससे मार-पीटकर अखबार छीन लिए लेकिन कुछ समय बाद ही वह फाँसी के फन्दे पर झूलकर शहीद हो गया।

उन्हीं दिनों मुरादाबाद (उत्तर प्रदेश) के सूफी अम्बाप्रसाद ने
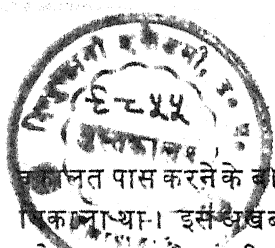
वकालत पास करने के बाद उर्दू में 'जाम्यूल इन्म' नामक अखबार निकाला था। इस अखबार के कारण वे सरकार के कोपभाजन बने अखबार और जमीन-जायदाद जब्त हो गई और उन्हें जेल में डाल दिया गया।

जेल से छूटने के बाद वह लाहौर पहुँचे। वहाँ सरदार भगतसिंह के चाचा सरदार अजीतसिंह के साथ 'पेशवा' (उर्दू) अखबार निकाला। पंजाब में 'पेशवा' अखबार के साथ ही 'भारत माता सोसायटी' कायम की। जब 1907 में पंजाब में बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियाँ होने लगीं तो आप सरदार किशन सिंह को साथ लेकर नेपाल चले गए। कुछ समय बाद सूफी साहब गिरफ्तार करके लाहौर लाये गए लेकिन सुबूत के अभाव में छोड़ दिये गए। अजीत सिंह और किशन सिंह भी आ गये। लेकिन सरकार की इन पर कड़ी निगाह रहने लगी अतः दोनों मौका पाकर ईरान चले गये। वहाँ इन्होंने 'आबेहयात' अखबार निकाला जिससे ईरान की सरकार इनके पीछे पड़ गई। वहाँ भी इन्हें बड़े कष्ट सहने पड़े। उस समय इनके द्वारा रोपे गये पौधे को पंजाब के समाज-सुधारक शिक्षाविद शेरे पंजाब लाला लाजपतराय ने सम्भाला।

लाला जी ने 'पेशवा' के स्थान पर आम जनता में जागरूकता लाने के लिए उर्दू में साप्ताहिक 'बन्दे मातरम्' निकाला। जिसने न केवल पंजाब में बल्कि आस-पास के इलाके में तहलका मचा दिया। अंग्रेजी पढ़े लोगों ने राष्ट्रीय भावना पैदा करने के लिए अंग्रेजी में 'पीपुल्स' तथा 'इन्डिपेन्डेन्ट' नामक अखबार निकाले। यहीं तक नहीं आपने राजनीतिक क्षेत्र में एक ठोस कार्य और किया। आपने राजनीतिक कार्यकर्ताओं में त्याग और देशभक्ति की भावना जाग्रत करने के लिए यह 'सर्वेन्ट आफ पीपुल्स सोसायटी' बनाई। इस संस्था के सदस्य अपनी आजी-

विका के लिए 200 रुपये मासिक लेकर शेष आय सोसायटी में जमा करते थे। इसी नियम के अनुसार लाल बहादुर शास्त्री को भी अपनी प्रधानमंत्री पद की तनख्वाह सोसायटी को देनी पड़ी थी।

उस समय अंग्रेज सरकार के खिलाफ आग उगलने वाले देश और विदेशों से भी कितने ही अखबार निकले। लाला हरदयाल ने 'गदर' निकाला, एक अखबार लन्दन में श्याम जी वर्मा ने निकाला, एनीवेसेन्ट ने भी एक अखबार निकाला जिसमें एक पेज अंग्रेजों के खिलाफ रहता था। इस अखबार को तो अंग्रेजों ने कुचल दिया और एनीवेसेन्ट को गिरफ्तार कर लिया लेकिन भारत में आई अखबारों की बाढ़ को नहीं रोका जा सका।

प्रयाग से उर्दू 'स्वराज्य' के संपादकों को कड़ी सजाएं दीं और अखबार को जब्त कर लिया। गांधी जी का 'यंग इंडिया' जब्त हुआ तथा अन्य भाषाई अखबारों का वजूद मिटा दिया लेकिन इलाहाबाद में मालवीय जी का 'अभ्युदय' और 'लीडर' कठिनाइयों का मुकाबला करता रहा।

प्रयाग से पं० सुन्दरलाल जी का 'कर्मयोगी', कानपुर से गणेशशंकर विद्यार्थी का 'प्रताप' निकला, जिसमें 'शहीदे आजम' भगतसिंह, वलवन्त सिंह के नाम से काम करते थे। आगरा का 'सैनिक' आदि कितने ही ऐसे निर्भीक पत्र निकले जिन्होंने कितनी ही बार जमानतें जब्त कराईं, संपादकों ने जेलें भोगीं लेकिन देश को आगे बढ़ाया।

इस आजादी के लिए जितने हकदार स्वतंत्रता संग्राम सेनानी हैं उससे अधिक वह अखबार हैं जिन्होंने इन सेनानियों के हृदयों में आजादी की ललक पैदा की थी।

आजादी का तराना

आज जिस गीत को राष्ट्रीय गीत के रूप में दूसरा स्थान मिला है तथा जिस गीत के बारे में कुछ लोग उस पर बुत-परस्ती की तोहमत लगा रहे हैं वही गीत किसी समय देश की आजादी के दीवानों के लिए प्रेरणा का स्रोत था। उस समय लोग 'बन्दे मातरम्' को गंगा की तरह पावन और गीता की तरह आजादी की राह का प्रकाश-पुंज मानते थे।

इस 'बन्दे मातरम्' शब्द को एक महामंत्र के रूप में अंगीकार करके असंख्य स्वतंत्रता सेनानियों ने हँसते हुए फाँसी के फन्दे को स्वेच्छा से अपने गले का हार बनाया था। न जाने कितनी औरतों, मर्दों, बूढ़ों और जवानों तथा बालकों ने इसके लिए अंग्रेज सरकार की पुलिस के डण्डे और कोड़े खाये थे। अतः यह 'बन्दे मातरम्' देश-भक्तों के शुद्ध रक्त से सिंचित होकर दुनिया के कोने-कोने में गूँजा था। उस समय लोग इसका उच्चारण बड़ी श्रद्धा से करते थे। जब दो साथी मिलते थे या आपस में पत्र-व्यवहार करते थे तो एक-दूसरे का अभिवादन 'बन्दे' शब्द से ही करते थे।

'बन्दे मातरम्' हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई लड़ने वाले भारतीयों के लिए एक ऐसा नारा बन गया था जो सोई जनता को जगाने और मुर्दों में जान फूँकने वाला हो गया था। इस बारे में एक व्यक्ति कहता था, 'कौमी नारा' और सारे लोग

'बन्दे मातरम्' कहकर आकाश गुंजा देते थे। अतः यह नारा जहाँ देश-भक्तों के लिए उत्साह और स्फूर्ति देने वाला था, वहीं अंग्रेज सरकार के लिए बौखलाहट और परेशानी पैदा करने वाला बन गया था। अंग्रेजों ने इस पर कितनी ही बार पाबन्दी लगाई और लोगों को मारा-पीटा, गोलियों से भूना तथा जेलों में डाला; लेकिन वह इसे रोक नहीं सके।

यह गीत सन् 1874 में लिखा गया था। इसकी प्रसिद्धि बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के उपन्यास 'आनन्द मठ' से हुई। इस गीत को सबसे पहले श्री बुद्धनाथ भट्टाचार्य ने स्वरबद्ध किया था। इसके बाद उनका नौकर नैपालचन्द इस गीत को बड़े ही सुन्दर ढंग से लय-ताल में गाता था। नैपालचन्द की आवाज सुरीली और मधुर थी।

कुछ दिनों बाद इसे महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सजा-सँवार कर गाना शुरू कर दिया था। उन्होंने तो इस गीत से लोगों के हृदयों में ऐसी देश-भक्ति की ज्योति जगा दी थी कि लोग इस गीत को आजादी की प्राप्ति का एक हथियार मानने लगे थे।

सन् 1885 में इटावा में अंग्रेज कलैक्टर ह्यूम ने नेशनल कांग्रेस की बुनियाद रखी थी। सन् 1905 तक राष्ट्र का न कोई झण्डा था, न गीत या नारा ही था। इस जमात के दूसरे अधिवेशन में जो कलकत्ता में 1886 में श्री दादाभाई नौरोजी की अध्यक्षता में हुआ उसमें यह 'बन्दे मातरम्' गीत गाया गया था।

उस समय इस गीत को श्री हेमचन्द्र बन्द्योपाध्याय नामक एक सज्जन ने गाया। अगले दिन इसी गीत को महाकवि रवीन्द्र बाबू ने गाया था। इस गीत की उस समय वहाँ उपस्थित सबही हिन्दू-मुसलमान-सिख और ईसाइयों ने भूरि-भूरि

प्रशंसा की थी।

जिस समय 1905 में बंग-भंग के खिलाफ स्वदेशी आन्दोलन चला उस समय सबने ही इस गीत को एक स्वर में गाना आरम्भ कर दिया। उस समय यह राष्ट्रीय गीत बन गया था।

इसकी तारीफ महात्मा गांधी, नेहरू जी, सरदार पटेल और मि० जिन्ना तक ने की और इसे कांग्रेस में राष्ट्रीय गीत के रूप में स्वीकार कर लिया गया तथा 'बन्दे मातरम्' को झण्डे के बीचों-बीच अंकित करा दिया गया।

उस जमाने में बड़े से बड़ा नेता भी इस 'राष्ट्रीय गायन' के समय श्रद्धा से खड़े होकर इसका सम्मान करता था।

इस राष्ट्रीय गीत को विदेशों में सबसे पहले 10 अगस्त 1907 में पश्चिमी जर्मनी में भारतीयों की एक भारी सभा में एक पारसी महिला मैडम कामा ने गाकर पेश किया था। वह महिला स्वयं भी पेरिस से 'बन्दे मातरम्' नामक अखबार निकालती थी। इस सभा से जर्मनी में बसे भारतीयों को यहाँ की सही जानकारी मिली थी। वहीं इन्होंने शान के साथ भारतीय झण्डे को पहली बार फहराया था।

भारतीयों के दिल और दिमाग में 'बन्दे मातरम्' ने ऐसा असर किया कि कितने ही प्रदेशों से इस नाम से विभिन्न भाषाओं में पुस्तकें और समाचार-पत्र निकलने लगे। राष्ट्रीय नेता लाला लाजपत राय जी ने भी लाहौर से उर्दू में 'बन्दे मातरम्' निकाला।

आज हम इतिहास के उन पृष्ठों को देखें जो देश-भक्तों के त्याग, बलिदान, निःस्वार्थ कर्तव्यनिष्ठा और कष्टों से भरा पड़ा है। हमें आजादी के नींव के उन पत्थरों की अनदेखी नहीं करनी चाहिए जिन्होंने हँसते हुए अपना सब-कुछ निछावर कर दिया था। नई पीढ़ी को इन कुर्बानियों की जानकारी प्राप्त करना

आवश्यक और देश के लिए हितकर है।

हम अपने उन बहादुर सेनानियों के प्रति श्रद्धा से अपना मस्तक नत करते हैं जिनके मुँह से हर कोड़े के उत्तर में 'बन्दे-मातरम्' का पावन उद्घोष ही निकलता था।

हमारा तिरंगा

राष्ट्रीय झण्डे का इतिहास हमारे स्वतंत्रता-संग्राम की आदिम गौरव गाथा है। राष्ट्रीय झण्डे का प्रत्येक देश में बड़ा महत्त्व होता है। यह देशवासियों की स्वतंत्रता और स्वाभिमान का प्रतीक होता है। इसे देखते ही देशवासी का मन उमंग से भर जाता है। हर देश में झण्डे को लेकर चलने वाले सेनानी कोई जोशीला गीत गाते हैं। लेकिन अपने पराधीन देश में आरम्भ में वीरों के सामने ऐसा कोई 'मार्च-गीत' नहीं था। इसलिए सन् 1924 में अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी ने एक कवि श्री श्याम लाल गुप्त पार्षद को जलसों और जलूसों में गाने योग्य देश-भक्ति का गीत लिखने को कहा।

इस गीत की रचना पार्षद जी ने कैसे की और कांग्रेस महासमिति ने इसे कैसे स्वीकार किया, इसकी भी अपनी कहानी है। यह गीत कानपुर कांग्रेस अधिवेशन के समय लिखा गया था।

4 मार्च 1924 की बात है। पार्षद जी विद्यार्थी जी से मिलने उनके अखबार 'प्रताप' के कार्यालय में आए थे। इससे पहले 'प्रताप' में उनकी काफी ओजस्वी कविताएँ प्रकाशित हो चुकी थीं, जिनकी भूरि-भूरि प्रशंसा लोगों ने की थी।

विद्यार्थी जी ने पार्षद जी से एक झण्डा-गीत लिखने का अनुरोध किया। उन दिनों लोगों को उत्साहित करने और राष्ट्रीय पताका लेकर साथ में गाते हुए चलने के लिए एक झण्डा

गीत की जरूरत महसूस की जा रही थी। विद्यार्थी जी ने कहा, "देश प्रेम की भावना से एक ऐसा गीत लिख दो जिसे हम जलूसों में और सभा-सम्मेलनों में गा सकें।"

काफी दिन बीत गए पर पार्षद जी विद्यार्थी के अनुरोध को पूरा नहीं कर सके। एक दिन विद्यार्थी जी ने गुस्से में कहा, "तुम खाक कविता करते हो, एक झण्डा-गीत तक तो लिख नहीं सकते। मैं नहीं जानता मुझे हर कीमत पर कल गीत चाहिए। मैं सवेरे तुम्हारे पास आदमी भेज दूंगा।"

पार्षद जी चिन्तित हो गए। विद्यार्थी जी उनका बहुत सम्मान करते थे, पर उनका आज का रौद्र रूप पार्षद जी के लिए चिन्ता का कारण बन गया। आखिर कैसे लिखें वह भी कल सुबह तक झण्डा-गीत।

पार्षद जी इस उधेड़बुन में घर लौटे और रात में गुनगुनाने लगे। काफी रात बीत गई। तब उन्होंने यह गीत लिखा—

राष्ट्र गगन की दिव्य ज्योति, राष्ट्रीय पताका नमो-नमो।
भारत जननी के गौरव की, अविचल शाखा नमो-नमो॥
कर में लेकर इसे सूरमा, कोटि-कोटि भारत संतान।
हँसते-हँसते मातृभूमि के, चरणों पर होंगे बलिदान॥
हो घोषित निर्भीक विश्व में, तरल तिरंगा नवल निशान।
वीर हृदय हिल उठे, मार ले भारतीय क्षण में मैदान॥
हो नस-नस में व्याप्त चरित्र, सूरमा शिवा का नमो-नमो।
राष्ट्र गगन की दिव्य ज्योति, राष्ट्रीय पताका नमो-नमो॥
उच्च हिमाचल की चोटी पर, जाकर इसे उड़ायेंगे।
विश्व विजयिनि राष्ट्र पताका, गौरव से फहरायेंगे॥
समरांगण में लाल लाड़ले, लाखों बलि-बलि जायेंगे।
सबसे ऊँची रहे, न इसको नीचे कभी झुकायेंगे॥

गूंजे स्वर संसार सिंध में, स्वतंत्रता का नमो-नमो।
भारत जननी के गौरव की, अविचल शाखा नमो-नमो॥

पार्षद जी ने गीत तो तैयार कर लिया परन्तु उन्हें स्वयं संतोष नहीं हुआ। इसी सोच-विचार में उन्हें नींद आ गई। लेकिन गीत लिखने की चिन्ता के कारण रात को फिर जाग गये और माँ सरस्वती की आराधना कर गुनगुनाने लगे। माँ सरस्वती ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और सवेरा होने से पूर्व उनकी कलम के नीचे लिखा गीत तैयार हो गया।

विजयी विश्व तिरंगा प्यारा, झण्डा ऊँचा रहे हमारा।
सदा शक्ति बरसाने वाला, प्रेम सुधा बरसाने वाला॥
वीरों को हरषाने वाला, मातृभूमि का तन-मन सारा।
झण्डा ऊँचा रहे हमारा॥

इस झण्डे के नीचे निर्भय, लें स्वराज्य यह अविचल निश्चल।
बोलो भारत माता की जय, सबल राष्ट्र है ध्येय हमारा।
झण्डा ऊँचा रहे हमारा॥

आओ प्यारे वीरो आओ, देश-धर्म पर बलि-बलि जाओ।
एक साथ सब मिलकर गाओ, प्यारा भारत देश हमारा।
झण्डा ऊँचा रहे हमारा॥

इसकी शान न जाने पाये, चाहे जान भले ही जाये।
विश्व विजय करके दिखलाए, तब होवे प्रण पूर्ण हमारा।
झण्डा ऊँचा रहे हमारा॥

सुबह होते ही विद्यार्थी जी के आदमी पार्षद जी के घर पहुँचे तो पार्षद जी ने दोनों गीत देते हुए कहा, दो गीत हैं, विद्यार्थी जी को जो पसन्द हो रख लें। जब इन गीतों को विद्यार्थी जी ने पढ़ा तो खुशी से उछल पड़े। उन दिनों राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन कानपुर में थे। विद्यार्थी जी उनसे मिले और पार्षद जी का झण्डा

गीत दिखाया। टंडन जी ने दोनों गीतों की मुक्त कंठ से सराहना की।

शुरू में झण्डा गीत में छः पद थे टंडन जी ने पार्षद जी की सहमति से दो छन्द हटा दिए और चार छन्दों का झण्डा गीत प्रचलित हो गया। सन् 1924 में कानपुर में हुए कांग्रेस अधिवेशन ने, जिसकी अध्यक्षता श्रीमती सरोजिनी नायडू ने की थी, यह गीत गाया गया और पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इसे राष्ट्रीय गीत के रूप में घोषित किया। इस तरह से जो गीत श्री श्यामलाल जी पार्षद ने तैयार किया, यह कोटि-कोटि कंठों में गाया जाने लगा।

पार्षद जी का जन्म 1896 में हुआ था। हिन्दी मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद वे कानपुर में अध्यापक हो गए। फिर हिन्दी साहित्य सम्मेलन से विशारद की परीक्षा उत्तीर्ण की। वे बाल्यकाल से ही रचनाएँ रचा करते थे।

एक बार राष्ट्र नायक जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—पार्षद जी (झण्डा गान के रचयिता) को कोई जानता है या नहीं, उनके झण्डा-गीत को सारा देश जानता है।

आज़ादी मिलने तक हर समारोह में झण्डा फहराते समय 'झण्डा ऊँचा रहे हमारा' गाया जाता था और शिविरों में शाम को झण्डा उतारते समय पार्षद जी का पहला गीत 'राष्ट्र गान की दिव्य ज्योति, राष्ट्रीय पताका नमो-नमो' गाया जाता था।

9 अगस्त, 42

उस समय संसार में चारों ओर द्वितीय विश्व युद्ध की ज्वालाएँ भड़क रही थीं। भारत के पूर्व में तो जापानी सेनाएँ अंग्रेजों के कितने ही मशहूर बन्दरगाहों पर तेजी से कब्जा करती हुई हिन्दुस्तान की सीमा तक आ पहुँची थीं। उन्होंने चटगाँव, कलकत्ता और विजगापट्टम पर बम फेंक भारत को अपने इरादों की सूचना दे दी थी।

भारतीय जनता विशेषकर बंगाल की जनता एक ओर तो भयंकर अकाल के कारण भूख से मर रही थी और दूसरी ओर जापानी हमलों की आशंका से बुरी तरह से घबरा रही थी। उसी समय व्यक्तिगत सत्याग्रह के बन्दी कांग्रेसी नेताओं को जेलों से रिहा किया गया। उन्होंने रिहा होते ही देश की बाग-डोर पुनः सम्भाली। लेकिन इस समय उसके सामने यही समस्या थी कि जापानियों का मुकाबला कैसे किया जाये; क्योंकि ब्रिटिश सरकार के रवैये में कोई अन्तर नहीं आया था।

जब फरवरी-मार्च 1942 में मलाया और सिंगापुर के बाद बर्मा भी अंग्रेजों के हाथ जाने लगा तो मार्च के अन्त में स्टेफोर्ड क्रिप्स मिशन भारत आया; लेकिन वह एक नाटक मात्र था। अतः 8 अगस्त 1942 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने अपने बम्बई अधिवेशन में 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' ऐतिहासिक प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास किया।

इस अवसर पर गांधी जी ने एक नया नारा 'करो या मरो' का दिया तथा नेताओं की गिरफ्तारी के वारंट स्वयं ही आन्दोलन के कार्य-संचालन की 'व्यक्ति स्वतंत्रीय' आजादी भी दे दी। गांधी जी ने लोगों से इस आन्दोलन को पूर्ण रूप से अहिंसक रखने की ताकीद की थी।

गांधी जी ने इस प्रस्ताव की सूचना वायसराय के पास इस आशा से भेजी कि शायद अब भी कोई समझौते का मार्ग निकल आए और आन्दोलन न करना पड़े। इसीलिए उन्होंने अभी आन्दोलन को शुरू न करने की घोषणा कर दी थी। लेकिन अंग्रेज इसे कांग्रेस द्वारा आन्दोलन को सुदृढ़ करने के लिए समय निकालने की चाल समझे। अत: अंग्रेजों ने इस आन्दोलन को कुचलने के लिए जो पहले से गुप्त योजना बना ली था उसी योजना के अनुसार 8 अगस्त की रात को ही गांधी जी तथा कांग्रेस कमेटी के अन्य सदस्यों को पकड़ कर अज्ञात स्थान पर भेज दिया। यही नहीं 9 अगस्त को पूरे देश के छोटे-से-छोटे कार्यकर्ताओं तक को गिरफ्तार करके जेल भिजवा दिया।

जनता ने जब यह सुना तो किंकर्तव्यविमूढ़ हो गई। अब वह क्या करे। तब ही एक दिन अंग्रेज सरकार की ओर से रेडियो पर बताया गया कि 'कांग्रेस हमारी फौजों को भेजी जाने वाली रसद को भेजने में बाधा डालने के लिए डाक-तार और पटरी उखाड़ कर गति अवरोध पैदा करना चाहती थी इसलिए उसके नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया है।

सरकार के इस रेडियो-प्रसारण से नेतृत्वहीन जनता को मार्गदर्शन मिल गया। वह समझ गई कि कांग्रेस क्या करना चाहती थी और उसे अब क्या करना चाहिए। इसके बाद देश-भर में डाकखाने, स्टेशन, तार, पुल-पटरी आदि सब-कुछ तोड़-फोड़े गये। अंग्रेजी सरकार जनता का यह रौद्र रूप देखकर समझ

गई कि अब भारत की जनता पर अधिक दिन तक राज्य करना सम्भव नहीं है।

यह सही था कि गांधी जी ने आन्दोलन को अहिंसक रहने पर जोर दिया था, लेकिन नेतृत्वहीन जनता ने आजादी के लिए जो कुछ किया वह देश की आजादी के इतिहास में सुनहरे अक्षरों में लिखे जाने वाली मिसाल बन गई। इस आन्दोलन में कितने ही कट्टर गांधीवादी नेताओं ने जनता को सक्रिय सहयोग दिया। श्री जवाहरलाल नेहरू ने स्वयं जेल से छूटने के बाद कहा था कि "यदि मैं 1942 के आन्दोलन के समय जेल से बाहर होता तो मैं नहीं कह सकता कि मैं क्या करता।"

इस तरह से आजादी के लिए लड़ी गई 1942 की यह लड़ाई भारत माता की गुलामी की जंजीरों को तोड़ने में अन्य चोटों से अधिक जोरदार चोट सिद्ध हुई। इस स्वतंत्रता के महायुद्ध में न जाने कितने नौनिहालों ने अपना तन-मन-धन सब-कुछ निछावर कर दिया। इन्हीं वीर शहीदों के पवित्र रक्त की बदौलत 15 अगस्त को हमारा तिरंगा झण्डा आकाश में लहरा सका है।

यह 1857 के क्रान्ति-युद्ध के बाद की सबसे गम्भीर बगावत थी, जो निर्णायक सिद्ध हुई।

राष्ट्रीय पर्व : गणतंत्र दिवस

26 जनवरी गणतंत्र दिवस तथा 30 जनवरी का शहीद दिवस दोनों ही हमें आजादी के इतिहास के उन पृष्ठों की याद दिलाते हैं जिसमें अद्भुत त्याग और बलिदान की गौरव गाथाएँ भरी गई हैं।

चूँकि देश की यह आज़ादी कोटि-कोटि नर-नारियों की देशभक्ति, त्याग, बलिदान और कर्तव्यनिष्ठा से प्राप्त हुई है इसलिए इसे बनाये रखने के लिए भी आज देश को उसी भावना की अपेक्षाकृत अधिक आवश्यकता है।

26 जनवरी 1929 को भारतवासियों ने रावी के तट पर पूर्ण स्वराज्य-प्राप्ति के लिए कांग्रेस के अधिवेशन में शपथ ली थी जिसे हर 26 जनवरी को दोहराया भी जाता रहा था। वह प्रतिज्ञा महात्मा गांधी जी के नेतृत्व में 15 अगस्त 1947 को पूरी हो गई। असंख्य कुर्बानियों के बाद भारत अंग्रेजों के पंजे से आजाद हो गया। इसके बाद भारत का अपना संविधान बना; जो 26 जनवरी 1950 को ही लागू किया गया; जिससे देश को गणराज्य का दर्जा हासिल हो गया। तब से यह दिवस (26 जनवरी) गणतंत्र दिवस के रूप में समूचे देश में हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता है।

राजधानी में उस दिन विजय चौक से लाल किले तक विभिन्न प्रमुख मार्गों से भव्य सैनिक परेड निकलती है, जिसकी

सलामी राष्ट्रपति जी लेते हैं। जनता की जानकारी के लिए इस परेड में सैनिक-सामग्री के अतिरिक्त विभिन्न प्रान्तों में हुई प्रगति की झलक तथा सांस्कृतिक झाँकियाँ भी होती हैं। इस परेड को लाखों लोग रेडियो पर सुनते हैं तथा टी० वी० पर देखते हैं। फिर भी बहुत बड़ी संख्या में लोग दिल्ली पहुँचकर इसे देखने की कोशिश करते हैं। हर बार परेड में कुछ आइटम और बढ़ाये जाते हैं।

यह बात सही है कि आजादी के बाद देश ने चहुँमुखी विकास तेजी से किया है, लेकिन नैतिकता के क्षेत्र में उतना विकास नहीं हुआ है जितने की अपेक्षा थी। इस सम्बन्ध में एक बार राष्ट्रपति जी ने गणतंत्र दिवस की पूर्व संध्या पर दिए गये अपने सन्देश में नैतिक बल को पुनः स्थापित करने पर बल दिया था।

यह सब स्वीकार करते हैं कि जनता के सहयोग के बिना देश तरक्की के कदम आगे नहीं बढ़ा सकता है। लेकिन इसमें सरकार की भी भागीदारी कम नहीं है। उसकी सजगता से प्रशासनिक ढाँचे की कार्यदक्षता, अनुशासन एवं कर्तव्यपरायणता की भावना पैदा हो सकती है।

यदि उच्चाधिकारी तथा मंत्रीगण अपने निजी फायदों के ढेर से निकलकर स्वयं जनता के दुःख-दर्द की बात सुनें और उसे दूर करने के लिए तत्परता से कार्य करें तो यह समस्या किसी हद तक पूरी की जा सकती है। मंत्रीगण और उच्चाधिकारी बिना पूर्व सूचना के अपने विभागों का मुआयना करें तो नीचे के कर्म-चारियों की सुस्ती दूर हो सकती है। इससे सरकार और जनता में सीधा सम्पर्क भी स्थापित हो सकता है। जनता व्यर्थ की अफसरशाही और लालफीताशाही से बच सकती है। इससे सत्तारूढ़ दल को चुनाव से पूर्व जन-सम्पर्क के लिए विशेष प्रयास की आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी। यह बिना पूर्व सूचना के

दौरा करने की परम्परा पहले कुछ मंत्रियों ने डाली थी, जिससे कार्य में कुछ तेजी आई थी।

लेकिन अब तो सदस्य और मंत्रीगण विधान सभा या लोक सभा की बैठकों तक में भी उसी समय पहुँचते हैं जब उनका या उनके दल का कोई सवाल अटका हो।

लोग कहते हैं कि नेहरू जी के जमाने में वह स्वयं और उनके मंत्रिमण्डल के सदस्य सदन में उपस्थित रहना अपना पावन कर्तव्य समझते थे लेकिन आजकल यह केवल 'मूड' की बात रह गई है। उस जमाने में बिना किसी अति आवश्यक काम के कोई सदन से गैरहाजिर नहीं रहता था। उसके विपरीत आज अति आवश्यकता होने पर ही मंत्री लोग सदन में उपस्थित होते हैं। यह सब होने से सदन में बहस का स्तर तो गिरा ही है साथ ही उसकी गरिमा को भी भारी ठेस पहुँची है। आज सदन में शोर-शराबा, गाली-गलौज और हाथापाई को देखकर जनता की आस्था अपने नेताओं के प्रति डगमगाने लगी है।

महात्मा गांधी जी ने राजनीति में नीति का समावेश करने का प्रयत्न किया था; लेकिन क्या आज के नेता और राजनीतिक दल इस ओर ध्यान दे रहे हैं। आज का यह दिवस हमें फिर से कुछ सोचने और करने के लिए प्रेरित करता है। देश के लिए और हमारे लिए भी इस मसले पर गम्भीरता से विचार और इस पर अमल करना अति आवश्यक है।

महिलाओं का योगदान

जब से अंग्रेजों के कदम भारत में जमने शुरू हुए तब से देश की महिलाओं ने उनके विरुद्ध संघर्ष करने में पुरुषों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर कार्य करना आरम्भ कर दिया था।

देवी चौधरानी, रानी शिरोमणि, बटुकनाथ की पत्नी वेलूना चियार, कर्नाटक की रानी चेनम्मा आदि वीरांगनाओं ने अंग्रेजों के छक्के छुड़ाने में कसर नहीं रखी थी। अंतिम मुगल बादशाह बहादुर शाह जफर की बेगम ताजमहल ने भी जब क्रांतिकारी सेना की बागडोर बादशाह ने सम्भाली तो बादशाह की पूरी मदद की थी। परिणामतः बादशाह के साथ ही उन्हें भी अंग्रेजों की कैद में माण्डले में जीवन के अन्तिम दिन बिताने पड़े थे। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई भी बड़ी बहादुरी के साथ लड़ते हुए शहीद हुई थी। इनके साथ ही इनकी चाची महारानी तपस्विनी देवी भी साथ रही थी। इन्होंने बाद में राष्ट्रीय शिक्षण के लिए 'महाकाली' शिक्षण संस्था स्थापित की थी।

जब अंग्रेज भारत में अपने सैन्य बल से सफल नहीं हो पाये तो कुटिल नीति और धूर्तता से राज्यों में पहुँचने लगे। अवध के नवाब वाजिदअली शाह जो एक कुशल और लोकप्रिय प्रशासक थे, को अय्याश और बदचलन कहकर बदनाम करके जनता को उनके खिलाफ भड़का दिया था। उनकी बेगम हजरत महल ने महिलाओं की पल्टन बनाकर अंग्रेजों से टक्कर ली थी। यह

पल्टन फौजी वर्दी पहन कर घोड़ों पर सवार होकर अंग्रेजों पर हमला करती थी।

इसके अतिरिक्त उस समय कितनी ही वेश्याओं ने भी कुर्बानी दी थी। कानपुर की अजीजन बाई ने नाचने-गाने वालियों की एक ब्रिगेड तैयार की थी जो क्रांतिकारियों के लिए जासूसी करती और घायलों की सेवा करती थीं। यह तात्या टोपे, नाना साहब और अजीमुल्लाखाँ की विश्वासपात्री थीं। एक अंग्रेज लेखक ने उसके बारे में लिखा है कि "वह घोड़े पर फौजी पोशाक पर मैडल लगाकर अपने साथियों के साथ पिस्तौल लिए घूमती थी।" पकड़े जाने पर जब सर हेनरी हेवलेक ने माफी माँग लेने पर छोड़ देने की पेशकश की तो उसने साफ इनकार कर दिया। जब उसे फायरिंग स्क्वैड ने उड़ाया तो उसने नाना साहब के जय के नारे लगाए। वह क्रांतिकारी उच्च कमान की सदस्या भी थी।

उसी दौरान वाजिदअली शाह को जब अंग्रेजों ने कैद करके कलकत्ता के मटिया बुर्ज में बहुत थोड़ी पेंशन पर रहने पर मजबूर कर दिया था तो उस समय नवाब साहब की वेश्या मित्र गुल अंदाम ने अपना लखनऊ में गड़ा धन, जवाहरात, हीरे व अशर्फियाँ आदि कलकत्ता पहुँचकर उनकी नजर कर दिया। संकट के समय यह सहायता देखकर नवाब साहब की आँखों में आँसू आ गए थे।

असहयोग आन्दोलन के समय लोकमान्य तिलक की भक्त वेश्या बन्दाबाई ने जोशीले गाने गाकर महत्वपूर्ण योगदान दिया। 1922 में काशी में तवायफों की एक संस्था ही बन गई थी जिसने गांधी जी के आन्दोलन के साथ विलायती माल और कपड़ों का बहिष्कार किया तथा जेल जाने की तैयारी की थी। इस संस्था की संचालिका हुस्नाबाई थी। उसने एक सभा में गांधी जी को बुलाकर लिखित भाषण भी सुनाया था। कितने ही

शहरों में ऐसी वेश्याएँ थीं जिन्होंने देशभक्ति का अच्छा परिचय दिया था। इन तवायफों में बहुत-सी तो इतनी योग्य और शिक्षित थीं कि अखबार भी निकालती थीं।

इसके बाद क्रांतिकारी दल की महिलाओं ने तो कुर्बानी देने में कमाल ही कर दिखाया था। 18 अप्रैल 1930 को जब चटगाँव शस्त्रागार पर छापा पड़ा तो नवीं कक्षा की दो लड़कियों ने सबसे छोटी उम्र में क्रांतिकारी होने का यश प्राप्त किया। उन्होंने एक अत्याचारी कलक्टर को योजनाबद्ध तरीके से गोली मारने का प्रयास किया था। इसकी सजा उन बालिकाओं को आजीवन कारावास मिली थी।

क्रांतिकारी दल की महिलाओं ने न केवल अपने छद्म वेश धारण किये थे बल्कि दूसरे पुरुष की पत्नी बनने का अभिनय भी किया था। इन भारतीय नारियों को इस अभिनय में कितने धर्म-संकट में से गुजरना पड़ा इसका अनुमान लगाना बड़ा कठिन है लेकिन उन्होंने देश की खातिर सब-कुछ सहन किया था।

एक बार जब भगत सिंह सॉण्डर्स की हत्या के बाद लाहौर में फँस गए थे तो उनके निकटतम साथी, जो खुद भी क्रांतिकारी थे भगवती चरण बोहरा की पत्नी श्रीमती दुर्गा देवी बड़ी चतुराई से भगत सिंह को उनकी पत्नी के रूप में एक बच्चे को साथ लेकर अंग्रेज पुलिस के चंगुल से बचाकर ले गई थीं। वे स्वयं भी क्रांतिकारी दल में काम करती थीं। लोग उन्हें आज भी दुर्गा भाभी के नाम से आदर और श्रद्धा से बुलाते हैं।

इसी तरह कलकत्ता की सुहासिनी गांगुली ने भी चटगाँव के क्रांतिकारी की राजनीतिक पत्नी की भूमिका निभाई थी, जिसे गिरफ्तार होने पर काफी जलालत उठानी पड़ी थी।

1915 में जब कुँआरा होने के कारण रासबिहारी बोस को लाहौर में कोई मकान नहीं मिल रहा था तब एक महिला ने उनकी

पत्नी बन कर मकान दिला दिया; लेकिन जल्दी ही रासबिहारी को वहाँ से भागना पड़ा। उस समय वे उस महिला को नहीं निकाल सके और पुलिस ने मकान को पूरी तरह से घेर लिया। पुलिस ने उस महिला को तरह-तरह की यातनाएँ दीं, लेकिन उस बहादुर महिला ने कुछ नहीं बताया। इससे खीझ-कर पुलिस ने उसे बलूच रेजिमेंट को सौंप दिया। वहाँ उसके साथ जो बीती उससे मानवता का सिर शर्म से झुक जाता है। सामूहिक बलात्कार के बाद उसे नदी में फेंक दिया। लेकिन किसी साधु ने उसे बचा लिया। इसका पता लगने पर रास-बिहारी ने उसकी व्यवस्था हरिद्वार में करा दी।

इस संघर्ष में इन महिलाओं के अतिरिक्त असंख्य महिलाएँ ऐसी रही हैं जिन्होंने घर के अन्दर रह कर किसी व्यक्ति के गिरफ्तार होने पर पुलिस की जनूनी हरकतें सहीं, पास-पड़ोस वालों तथा निकट सम्बन्धियों का तिरस्कार तथा निन्दा सही तथा सबसे अधिक वेदना और कष्ट धनाभाव के कारण उठाना पड़ा था।

मैडम कामा तो देश की ऐसी पहली महिला थीं जिन्होंने सन् 1907 में भारत क झण्डे को जर्मनी में बसे भारतीयों के सम्मुख फहराया था। इन्होंने विदेशों में रहकर बहुत काम किया था। 1920-21 में असहयोग आन्दोलन में तथा 1930 के सविनय अवज्ञा आन्दोलन में महिला सत्याग्रहियों की गिनती ही नहीं थी। नमक कानून तोड़ने, विदेशी कपड़ों की दुकानों तथा शराब के ठेकों पर धरना देकर लाठी खाने और गिरफ्तार होने में वे पुरुषों से पीछे नहीं थीं। कुछ तो बहुत छोटी बालिकाओं ने भी बड़े उत्साह से आन्दोलन में काम किया था।

उस समय के बड़े-बड़े नेताओं की पत्नियों तथा परिवार की अन्य महिलाओं ने भी उत्साह से भाग लिया था। नेहरू जी के

खानदान की तो तीन पुश्तों ने इस लड़ाई में भाग लिया था। आजाद हिन्द फौज की कैप्टन लक्ष्मी ने 'झाँसी रानी रेजीमेंट' का संचालन किया था। 1942 के आन्दोलन की आग तो देश के हर कोने में भड़क उठी थी। इसमें महिलाओं ने पुत्र-मोह छोड़कर ऐसी कुर्बानी दी थी कि लोग चकित रह गए थे। आसाम में एक थाने पर जब झण्डा लगाते हुए एक युवक को गोली मार दी गई तो उसकी बूढ़ी माँ तलेश्वरी देवी ने उसके हाथ से झण्डा लेकर स्वयं थाने के ऊपर पहुँच कर फहरा दिया और गोली खाकर बेटे के साथ ही शहीद हो गई।

'अंग्रेजो भारत छोड़ो' आन्दोलन में अरुणा आसफअली ने भूमिगत रहकर बड़े साहस का परिचय दिया था। इन महिलाओं के अतिरिक्त विदेशी महिलाओं ने भी अपना देश छोड़कर भारत की पराधीन दुखी जनता की काफी सेवा की थी। सुभद्राकुमारी चौहान, सरोजिनी नायडू, सुचेता कृपलानी, राजकुमारी अमृत कौर, सुशीला नैयर, इन्दिरा गांधी आदि अनेकों महिलाओं ने देश को विभिन्न तरीकों से आगे बढ़ाकर अपने कर्तव्य का पालन किया है।

क्रांति की योजना इंग्लैंड में बनी थी

यह सन् 1857 से पूर्व की बात है। नाना धुन्धु पन्त को मिलने वाली पेंशन गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने बन्द करा दी थी। 8 लाख रुपये सालाना की पेंशन और बिठूर की जागीर बाजीराव पेशवा को उनके राज्य के बदले में देने का अंग्रेजों ने इकरारनामा सन् 1818 में किया था। यह पेंशन पेशवा के कुटुम्बियों और आश्रितों के पोषण के लिए देना तय हुई थी।

बाजीराव पेशवा के कोई सन्तान नहीं थी, इसलिए उन्होंने धार्मिक परम्परा के अनुसार सन् 1827 में एक तीन वर्षीय बालक नाना धुन्धु पन्त को गोद ले लिया था।

जब लार्ड डलहौजी हिन्दुस्तान में गवर्नर जनरल बन कर आया तो उसने सतारा, पंजाब, झाँसी, नागपुर, सिक्किम और सम्बलपुर आदि रियासतों को हड़पने के बाद नाना धुन्धु पन्त की पेंशन भी बन्द करा दी। डलहौजी ने बाजीराव पेशवा द्वारा गोद लिये बालक को भी नाजायज ही नहीं बताया बल्कि गोद लेने की धार्मिक प्रथा को ही नाजायज करार दे दिया।

नाना साहब ने पहले तो गवर्नर जनरल को ईस्ट इंडिया कम्पनी के साथ हुए समझौते का हवाला देते हुए पेंशन जारी रखने का अनुरोध किया लेकिन गवर्नर के यहाँ से उत्तर में बिठूर की जागीर भी छोड़ने की धमकी भरा पत्र मिला। यही नहीं, बल्कि पेशवा के जीवनकाल की पेंशन के बकाया 62 हजार

रुपयों को भी जब्त किये जाने की सूचना मिली। नाना साहब समझ गए कि डलहौजी की नीयत क्या है ? अतः उन्होंने इस तानाशाही हुक्म के खिलाफ इंग्लैंड में बैठे ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रशासकों के सम्मुख अपील करने का फैसला किया।

पिछले वर्षों में युवक नाना ने अंग्रेजों और उनकी मेमों की बिठूर पहुँचने पर खूब सेवा और खातिरदारी की थी। खाने-पीने के अतिरिक्त सवारी के लिए घोड़ों-हाथियों की व्यवस्था और मेमों को शाल और आभूषण तक भेंट में दिए थे। नाना साहब के व्यवहार की प्रशंसा अंग्रेज इतिहास लिखने वालों ने भी की हैं। लेकिन डलहौजी के इस व्यवहार से नाना को बड़ा क्षोभ हुआ।

नाना साहब ने अपने एक विश्वास-पात्र मित्र अजीमुल्लाखाँ, जो योग्य वकील, नीति-कुशल राजनेता तथा अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषा के विद्वान् थे, को तमाम सबूत के जरूरी कागजात लेकर अपील की पैरवी करने के लिए इंग्लैंड भेजा। अजीमुल्ला ने अपनी योग्यता और व्यवहारकुशलता से वहाँ अच्छा प्रभाव जमा लिया और उच्च समाज में सब सम्मान अर्जित किया। उनके रूप, रंग और बोल-चाल के ढंग से वहाँ के उच्च समाज की महिलाएँ इन पर मोहित थीं लेकिन जिस काम के लिए गए थे, उसमें कोई सफलता नहीं मिली। वहाँ इनकी आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज-जैसी बनकर रह गई। यद्यपि वहाँ का शिक्षित समाज तथा इतिहास-लेखक भी स्वीकार करते थे कि नाना साहब का केस मजबूत है लेकिन साथ ही यह भी मानते थे कि चालाक और मक्कार प्रशासकों से आशा करना व्यर्थ है।

अंग्रेजों के व्यवहार को देखकर नाना साहब यह महसूस करते थे कि इन धूर्त फिरंगियों से अपने को तथा देश को बचाने के लिए कोई बड़ा और ठोस कदम उठाना पड़ेगा। अजीमुल्ला भी

वहाँ ऐसा ही सोचते थे।

संयोग से उन्हीं दिनों सतारा के पदच्युत राजा की ओर से भी अपील करने एक योग्य और नीतिज्ञ मराठा रंगो बापू जी भी इंग्लैंड पहुँचे थे। इन्हें भी अपने उद्देश्य में कोई सफलता नहीं मिल रही थी। अतः इन दोनों ने मिलकर फिरंगियों को भारत से बाहर करने की एक योजना तैयार की। यह काम बहुत बड़ा था, इसलिए अपने देश के नरेशों का संगठित होना जरूरी था। तथा अन्य देशों की सहानुभूति लेना भी आवश्यक समझा गया था।

दो-तीन दिन बाद एक दिन इंग्लैंड की सुनहरी शाम को टेम्स नदी के किनारे अजीमुल्ला भारतीय राजकुमारों-जैसी पोशाक पहने हुए घूम रहे थे कि तब ही उनकी निगाह अचानक रंगो बापू जी पर पड़ी। वे भी गम्भीर मुद्रा में टेम्स नदी की लहरों को बड़े गौर से देख रहे थे।

"ओह बापू जी ! आप यहाँ हैं, मैं तो आपको कमरे में देखने गया था।" अजीमुल्ला ने अदब से उनके पास बैठते हुए कहा।

"अरे अजीमुल्ला तुम कहाँ लोप हो गए थे। मैं तो कल दिन-भर तुम्हारी प्रतीक्षा करता रहा। तुम्हारे दो दिन न मिलने से मुझे बड़ी परेशानी होने लगी थी।" रंगो बापू जी ने कहा ! अजीमुल्ला ने मुस्कराते हुए कहा "आपको क्या मेरे खो जाने का डर था।"

"नहीं, यह बात नहीं है। लेकिन यहाँ सब-कुछ हो सकना सम्भव है। आजकल यह धूर्त लोग हमारे-तुम्हारे बीच गलत-फहमी पैदा करने में लगे हुए हैं।" बापू जी ने कहा। अजीमुल्ला ने अपनी गैरहाजिरी का कारण बताते हुए कहा, "यह कौम बड़ी चालाक और मक्कार है। और तारीफ यह कि अपनी मक्कारी को 'डिप्लोमैसी' कहते हैं।"

इनके बाद निश्चित कार्यक्रम के अनुसार रंगो बापू जी दक्षिण भारत के नरेशों को संगठित करने के लिए भारत आ गए और अजीमुल्ला यूरोप के देशों का भ्रमण करने चले गए।

अजीमुल्ला जब कुस्तुनतुनिया पहुँचे तो उन दिनों वहाँ इंग्लैंड और रूस का युद्ध चल रहा था। वहाँ इनकी भेंट लन्दन के अखबार 'टाइम्स' के सम्वाददाता से हुई। वह भी युद्ध की रिपोर्टिंग करने पहुँचा हुआ था। वह इनकी तारीफ करते हुए लिखता है जब अजीमुल्ला युद्ध देख रहे थे तो एक तोप का गोला इनके पैरों के पास ही आकर गिरा लेकिन यह घबराये नहीं। अजीमुल्ला वहाँ से इटली, रूस, टर्की और मिस्र गए। यहाँ के राज्याध्यक्षों को अपने देश की वस्तुस्थिति बताकर उनकी सहानुभूति अर्जित करने का प्रयास किया।

इटली का प्रसिद्ध देशभक्त सेनापति गैरीबाल्डी तो भारतीयों की सहायता करने को बिल्कुल तैयार हो गया था। लेकिन वहाँ के घरेलू झंझटों के कारण उसे चलने में थोड़ी देर हो गई। उसने सेना और हथियार एक जहाज में लदवा दिये थे तब उसे सूचना मिली कि भारत का विद्रोह शान्त हो चुका है।

इस तरह से इंग्लैंड में बनी इस क्रांति की योजना को उस समय सफलता नहीं मिल सकी थी।

सोने की चिड़िया

उस समय देश कितने ही छोटे-बड़े राज्यों में बँटा हुआ था फिर भी धन-धान्य, ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा और कला-कौशल में अन्य देशों की अपेक्षा बहुत आगे था। यहाँ की खुशहाली को देखकर ही लोग इसे 'सोने की चिड़िया' कहते थे।

जब पहले-पहल अंग्रेज भारत में आये तो वे भी यहाँ के विकास और तरक्की को देखकर चकित रह गए। उन्होंने अपने व्यापार के लिए इसे अच्छा क्षेत्र समझा। उन्होंने मुगल सम्राट् से अपने व्यापार के लिए इजाजत तथा कुछ सुविधाओं के लिए याचना की। उस समय कुछ राजाओं और नवाबों ने उन्हें अनुमति प्रदान कर दी।

इंग्लैंड की ईस्ट इंडिया कम्पनी ने, जिसमें वहाँ के बड़े-बड़े लार्ड हिस्सेदार थे तथा रानी विक्टोरिया भी शरीक थी, यहाँ के व्यापार की बागडोर सम्भाली। कम्पनी ने यहाँ के बड़े व्यापारियों तथा छोटे-छोटे राज्यों से तरह-तरह के समझौते किए। उन्होंने व्यापार की समुचित व्यवस्था के लिए प्रमुख स्थानों पर अपनी बड़ी-बड़ी कोठियाँ कायम कीं। इसके साथ ही सुरक्षा के नाम पर अपना सैन्य-बल भी बढ़ाया।

प्रारम्भ में ईस्ट इंडिया कम्पनी का व्यवहार अच्छा रहा लेकिन धीरे-धीरे साजिशें बढ़ने लगीं। छोटे-छोटे राज्यों में भाई को भाई से लड़ाकर, बेटे को बाप के खिलाफ खड़ा करके अथवा

राजा के खिलाफ जनता को भड़काकर बन्दर-बाँट करने लगे। पिछले समझौते, जिनकी स्याही भी अभी नहीं सूखने पाई थी, टूटने लगे।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद तो अंग्रेजों ने मद्रास और बंगाल से खुलेआम लूट-खसोट शुरू कर दी; जिसके परिणामस्वरूप सन् 1757 में अंग्रेजों के खिलाफ प्लासी का युद्ध हुआ। इस युद्ध के बाद भी अंग्रेज 1842 तक अपने को दिल्ली सम्राट् को आज्ञाकारी प्रजा लिखते और मोहर पर दिल्ली सम्राट् का चिह्न लगाते रहे थे।

प्लासी युद्ध में मिली पराजय से भारतीयों की आँखें खुल गई थीं। उन्हें अंग्रेजों की कुटिल नीति 'लड़ाओ और राज्य करो' का कड़वा अनुभव होने लगा था। लेकिन अब तक अंग्रेज अपने पैर काफी फैला चुके थे। फिरंगियों के खिलाफ फैली नफरत की आग सन् 1857 में 'महान् क्रांति' के रूप में सामने आई। उस समय अंग्रेजों को लेने के देने पड़ गए थे। वे अपने प्राणों की रक्षा के लिए इधर-उधर छिपते फिरे थे, लेकिन दुर्भाग्य से देश का वह सफेद दाग उस समय दूर नहीं हो सका। कुछ स्वार्थी एवं देश-द्रोहियों ने अंग्रेजों के उखड़े पाँवों को फिर से जमवा दिया।

लेकिन इस सशस्त्र क्रांति ने अंग्रेजों के कान अवश्य खड़े कर दिये। अब तक ईस्ट इंडिया कम्पनी के दुर्व्यवहार से देश भर में काफी असन्तोष फैल चुका था। इसलिए अंग्रेज समझने लगे थे कि अब भारतीयों को बिना कुछ अधिकार दिये बात नहीं बनेगी। अतः उन्होंने 1858 में ब्रिटिश पार्लियामेंट में ईस्ट इंडिया कम्पनी को समाप्त करके गवर्नर जनरल की नियुक्ति कर दी तथा बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल के स्थान पर ब्रिटिश पार्लियामेंट में भारत मंत्री का पद बना दिया और इनकी सलाह के लिए 'इंडिया काउंसिल' स्थापित कर दी। इसके अलावा और भी छोटे-छोटे सुधार किए

गए। सन् 1880-84 में भारतीयों को स्वायत्त शासन में भाग लेने का अधिकार दिया गया।

उस समय देश में छाई मायूसी को दूर करने के लिए समाज सुधार के आन्दोलन चलाये गए। ब्रह्म समाज, वेद समाज, थियोसिफिकल सोसायटी, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन आदि संस्थाओं ने समाज में फैली कुरीतियों को दूर करने तथा जनता के मनोबल को ऊँचा उठाने में बड़ा कार्य किया। सन् 1885 में एक और संस्था का प्रादुर्भाव हुआ। इसका उद्देश्य था भारत के उच्च वर्ग में फैले असन्तोष को समझा जाये और दम-दिलासा देकर सन्तुष्ट रखा जाये। इस संस्था के जन्मदाता इटावा (उत्तर प्रदेश) के अंग्रेज कलक्टर मि० ह्यूम थे। इस संस्था का नाम 'इंडियन नेशनल यूनियन' रखा गया था। कुछ वर्षों तक इसके पुराने प्रस्तावों को ही दोबारा पास करके प्रार्थना के रूप में दिया जाता था। प्रस्तावों में कुछ योग्य भारतीयों को अच्छी नौकरी पाने के लिए अनुरोध होता था।

कुछ वर्षों तक यह क्रम ऐसे ही चलता रहा लेकिन सन् 1905 में लार्ड कर्जन ने देश की राष्ट्रीय भावना को समाप्त करने के लिए बंगाल को दो हिस्सों में बाँटने का फैसला किया। बंगवासियों ने इस निर्णय का घोर विरोध किया। सरकार ने भी इस विरोध को दबाने के लिए दमन चक्र चलाने में कसर नहीं रखी। परिणामतः यह आग समूचे देश में फैल गई। बंगाल के नेता विपिनचन्द्र पाल ने अंग्रेजी शिक्षा और विदेशी माल के बहिष्कार का आन्दोलन शुरू कर दिया। 1907 में इस नई संस्था 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' ने भी केवल प्रस्ताव पास करते रहने की नीति का परित्याग कर 'बहिष्कार आन्दोलन' में सक्रिय होकर बाल गंगाधर तिलक और लाला लाजपत राय, विपिनचन्द्र पाल के साथ हो गए। सारे देश में 'बाल-लाल-पाल' का नारा लगाया

जाने लगा।

अगले वर्ष 1908 में सरकार ने जनता के विरोध करने पर भी 'राजद्रोही सभा बन्दी प्रेस एक्ट' कानून पास कर दिया, जिससे जनता में उत्तेजना और भड़क गई। उस समय जनता का उग्र रूप देखकर अंग्रेज सरकार द्विविधा में पड़ गई। अगर झुकती तो शान किरकिरी होती, इसलिए उन्होंने बड़ी चतुराई से जार्ज पंचम के राज्याभिषेक महोत्सव का लाभ उठाकर बंग भंग का निर्णय रद्द कर दिया और राजधानी कलकत्ता से दिल्ली ले आई गई। इस तरह से उस समय अंग्रेजों ने अपनी इज्ज़त बचा ली।

इन्सानों की खोज

कहते हैं एक बार एथेन्स का एक दार्शनिक दिन को तेज रोशनी में भी जलता हुआ लैम्प लेकर कुछ खोजता फिर रहा था। उस दार्शनिक की इस अनोखी हरकत को देखकर वहाँ के लोगों ने उससे पूछा, तो उसने बड़ी सन्जीदगी से उत्तर दिया कि 'मुझे बिना सींग और पूँछ के प्राणी तो मिलते हैं लेकिन अभी तक इन्सान नहीं मिला है, उसे ही ढूँढ़ रहा हूँ।' वहाँ खड़े लोग उसकी इस बेतुकी बात पर खूब हँसे थे।

इसी तरह, एक बार जब औरंगजेब बादशाह ने अपने भरे दरबार में 'इन्सान' खोजने की बात कही थी तो वहाँ उपस्थित लोगों को काफी बुरा लगा था। वह सोच रहे थे कि क्या बादशाह सलामत हमें इन्सान नहीं समझते हैं।

कुछ शताब्दी पूर्व महात्मा गांधी ने भी दक्षिणी अफ्रीका से हिन्दुस्तान आने पर ऐसे लोगों की तलाश की थी जो देश की सोई जनता को जगाकर आजादी की लड़ाई में भाग ले सके, लेकिन उन्हें बहुत खोजने पर कुछ ही लोग ऐसे मिले जो उनके सिद्धान्तों को समझ सके। अतः उन्होंने ऐसे कार्यकर्ताओं को स्वयं ही तैयार करने का फैसला किया जो देश में आर्थिक और सामाजिक बदलाव के साथ ही आजादी के लिए लोगों को तैयार करने में मदद कर सके।

इसके लिए गांधी जी ने अहमदाबाद में साबरमती आश्रम

की स्थापना को जहाँ सत्य का ज्ञान एवं उसे पाने के लिए अहिंसा का मार्ग, ब्रह्मचर्य एवं अस्वाद का महत्त्व, आवश्यकता से अधिक वस्तु संग्रह का परित्याग तथा सेवा-वृत्ति के लिए अपरिग्रह अपनाने को प्रेरित किया गया। साथ ही अनुशासन में रहते हुए निर्भीक बनने, शारीरिक श्रम करने तथा स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग करने की शिक्षा दी गई।

कुछ दिनों के प्रशिक्षण के बाद इन सत्याग्रहियों ने देश-भर में फैलकर दबी हुई जनता में साहस निर्भीकता एवं आजादी प्राप्त करने की भावना भरी; जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत की जनता संगठित होकर स्वाधीनता की लड़ाई में कूद पड़ी। उस समय लोगों ने बड़े साहस के साथ हँसते हुए अपने सीनों पर गोलियाँ खाईं, फाँसी के फन्दे को गले लगाया और तरह-तरह के कष्ट सहे।

इन स्वतंत्रता-संग्राम-सेनानियों के त्याग, तपस्या एवं कुर्बानियों से भारत माता की परतंत्रता की बेड़ियाँ कटीं और देश आजाद हो गया। लेकिन बदकिस्मती से यह आजादी कुछ लोगों के कारण काफी महंगी सिद्ध हुई और देश के दो टुकड़े हो गये।

आजादी के बाद धीरे-धीरे गांधी जी द्वारा बनाये गये इन्सान विलीन होते गए और नये कन्धों पर देश को आगे बढ़ाने का उत्तरदायित्व आने लगा। इन लोगों ने भी इन्सानों की आवश्यकता को महसूस किया तथा उनकी खोज जारी रखी। देश के प्रथम प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने पहली पंचवर्षीय योजना के लागू करते समय ही ऐसे लोगों की माँग की थी जो देश के निर्माण के कामों में जी-जान से लग सकें। देश के निर्माण का काम आजादी प्राप्त करने से कम महत्व का नहीं था, इसलिए उस काल में भी उत्सर्ग की भावना वाले 'इन्सानों' की खोज

जारी रही।

एक प्रतिज्ञा हम लोगों ने कुछ वर्ष पूर्व 26 जनवरी को पूर्ण-स्वराज्य प्राप्त करने की की थी जिसे हम हर वर्ष दोहराते भी रहे थे। वैसी ही प्रतिज्ञा हमें फिर आजादी की सुरक्षा के लिए करनी होगी। आज देश को फिर ऐसे 'इन्सानों' की खोज करनी है जो देश की एकता, अखंडता और विकास के कार्यों में अपने निजी स्वार्थों को त्यागकर उत्सर्ग की भावना से जुट सकें।

डॉ० राजेन्द्र बाबू ने कहा था—"हमें यह भूल जाना चाहिए कि त्याग का समय चला गया और अब भोग का समय आ गया हैं। आजादी की लड़ाई के समय तो हमें हथकड़ियाँ, जेलखाने, लाठियाँ एवं गोलियों के सिवाय कुछ और नहीं मिल सकता था तो उस समय हम त्याग क्या करते हाँ अकर्मण्य बनकर कायरता-पूर्वक भाग सकते थे। लेकिन जब हमारे हाथ में कुछ-न-कुछ अधिकार हो जब हमको इसका अवसर हो कि हम अपने हाथों को गर्मा सके, अपनी प्रतिष्ठा को संसार की आँखों में बढ़ा सकें तथा अपने को एक बड़ा अधिकारी दिखा सकें तब इस अधिकार की परवाह न कर जनता की सेवा का ख्याल रखें, धन के लोभ में न पड़ें तथा अपनी सादगी में बड़प्पन देखें तब ही हम कुछ त्याग दिखा सकते हैं। आज हम जिस वस्तु को प्राप्त कर सकते हैं उसके त्यागने को त्याग कहा जा सकता है।

खून की होली

24 मार्च, 1931 की बात है—

सवेरा होते ही देशवासियों ने सुना कि ब्रिटिश सरकार ने तीनों देशभक्त नवयुवकों—सरदार भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु को लाहौर की जेल में फाँसी दे दी।

इन युवकों को फाँसी से बचाने के लिए भारतीय नेताओं ने, देश की पत्र-पत्रिकाओं ने समूची जनता ने तत्कालीन सरकार से अनुनय-विनय की थी, किन्तु सब व्यर्थ ही रहा।

चूँकि विदेशी सरकार जानती थी कि लोकप्रिय युवकों को फाँसी देने से भारतीय जनता से उसके प्रति रोष और क्रोध भड़केगा इसलिए उन चतुर शासकों ने जनता के क्रोध को आपस में ही मारने-काटने की ओर मोड़ दिया और अपना शासन-काल पन्द्रह वर्ष के लिए सुरक्षित कर लिया।

24 मार्च को जैसे ही यह फाँसी दिये जाने का समाचार मिला वैसे ही सारे देश में शोक के काले बादल छा गये। छोटे और बड़े शहरों में हड़तालें होने लगीं। लोग काले झंडे लेकर सरकार विरोधी नारे लगाते हुए जलूस निकालने लगे।

तत्कालीन सरकार की पूर्व योजना के अनुसार देश में अनेक जगह साम्प्रदायिक दंगे होने जारी हो गये; कितने ही जगह यह आग भड़की लेकिन जो भयंकर रूप इसने कानपुर में धारण कर लिया उससे भारतीय इतिहास का एक पृष्ठ स्थायी रूप से काला

हो गया।

अन्य नगरों की तरह कानपुर में भी हड़ताल करने का एलान किया जा चुका था। शिक्षण-संस्थाएँ बन्द हो चुकी थीं; बाजार में भी मुकम्मिल हड़ताल हो गई थी। कोई-कोई दुकानदार चोरी छिपा गलियारों में कुछ बेच लेता था।

बेहतरीन मौका था यह गवर्नमेंट के लिए खुला-खेलने का। पुलिस गुर्गों और सी० आई० डी० वालों ने बिल्कुल झूठ, तथा बेबुनियाद कहना शुरू कर दिया कि अमुक स्थान पर हिन्दुओं ने मुसलमानों की दुकाने लूटनी शुरू कर दी हैं। बस फिर क्या था, शासकों का मनोरथ पूर्ण हुआ। हथियारों से लैस मुसलमानों ने कानपुर के मूलगंज के चौराहे पर आकर मोर्चा लगा दिया।

आरम्भ में एक-दूसरे पर गाली-गलौज और पथराव होता रहा और फिर इसके बाद—

इसके बाद खूनी होली प्रारम्भ हो गई। सरकार ने तो तीन देशभक्तों के खून से होली खेली किन्तु हमारे देशवासी अपने ही सैंकड़ों भाइयों के खून से होली खेलने लगे।

इस होली में अनेक अबलाओं की माँग का सिन्दूर साफ हो गया। सैंकड़ों फूल जैसे कोमल और गुलाब से भी अधिक आकर्षक निरीह बच्चे गाजर-मूली की तरह काट डाले गये और न जाने कितने ही मातृ-पितृ-विहीन हो गये। दुकानों, मकानों, मन्दिरों और मस्जिदों के भस्मसात् होने का तो पूछना ही क्या है?

जिस समय नगर में यह रौरव हो रहा था, उस समय पुलिस और उच्च अधिकारी गश्त लगा रहे थे। उन मौहल्लों में जहाँ पूर्ण शान्ति थी ऐसा लगता था मानो उन्हें सड़क नापने के अति-रिक्त कोई दूसरा काम नहीं सौंपा गया है। एक-दो बार पुलिस उच्च अधिकारियों से मुसीबत में फँसे लोगों ने सहायता की याचना भी की तो उन्होंने हँसते हुए कहा, गाँधी को बुलाओ,

वही बचायेगा।

चौबीस से दिल दहलाने वाली चीत्कारें आने लगीं और मकानों में लगी आग की ज्वालाएँ आकाश को छूने लगीं।

नगर के विभिन्न भागों से दंगे के लोमहर्षक समाचारों को सुनकर अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी का दयार्द्र हृदय संकट में फंसे लोगों को बचाने के लिए छटपटाने लगा। रात भर उन्हें नींद नहीं आई। पच्चीस को सुबह तड़के ही बिना कुछ खाये-पिये घर से निकल पड़े। विद्यार्थीजी की धर्मपत्नी और मित्रों ने इस भयंकर तूफान में जाने से रोका भी, लेकिन जो व्यक्ति दूसरों के लिए ही जिया हो उसे दूसरों के लिए मरने में क्या संकोच हो सकता था? आखिर वह डेढ़ पसली का व्यक्ति अपनी जान हथेली पर रखकर उन मोहल्लों में जा पहुँचा, जहाँ इन्सानियत अपना दम तोड़ रही थी।

हिन्दुओं के मोहल्लों में फंसे हुए मुसलमानों को निकालकर सुरक्षित स्थानों पर भेजना ही उनका काम था किन्तु जब मुसलमानों के मोहल्ले में हिन्दुओं को निकालने गये तो धर्मान्ध गुण्डों ने विद्यार्थी जी के ही पवित्र रक्त से होली खेल डाली।

विद्यार्थीजी के साथ दो स्वयंसेवक थे। जब वह मुसलमानी मोहल्ले में दाखिल हुए तो एक गोल ने इन पर हमला करना चाहा लेकिन साथ के एक स्वयंसेवक ने जो मुसलमान था—बताया इन्होंने तुम्हारे सैंकड़ों भाइयों को बचाकर हिफाजत की जगह भेजा है, इन्हें ही मारोगे?

आततायियों के हथियार झुक गये और आभार मानते हुए विद्यार्थीजी से हाथ मिलाया और बढ़ गये।

विद्यार्थी जी और उनके साथी कुछ ही आगे बढ़े होंगे कि दूसरा दल इनके सामने आ धमका। इस स्वयंसेवक ने उन्हें भी समझाने की चेष्टा की, लेकिन सब व्यर्थ ही रहा। उन गुण्डों ने

किसान और मजदूरों के एक-मात्र रहनुमा को सदा के लिए हमसे छीन लिया। एक व्यक्ति ने बचाने की गरज से विद्यार्थीजी को एक सुरक्षित स्थान की तरफ खींचा भी किन्तु उन्होंने कहा—

"क्यों घसीटते हो मुझे ? मैं भागकर जान नहीं बचाऊँगा। अगर मेरे मारने से ही इन लोगों के हृदय की प्यास बुझती हैं तो अच्छा है। मुझे सन्तोष है कि मैं अपना कर्तव्य-पालन करते हुए आत्मबलिदान कर रहा हूँ।"

और सचमुच उस साहसी निर्भीक सेनानी ने, कर्तव्य की वेदी पर हँसते हुए अपनी बलि चढ़ा दी।

इस महान् त्याग को याद कर आज भी ऐसा लगता है मानो कानपुर की गलियों में विद्यार्थीजी की आत्मा मानव को शान्ति का पाठ पढ़ाती विचरण कर रही है।

महिलाओं ने उकसाया

कहते हैं कभी-कभी छोटी-सी कही बात भी गहरा असर करती है। तदनुसार 1857 की क्रांति से पहले कुछ महिलाओं द्वारा कही बात का असर फौजियों पर बड़ा ही गहरा हुआ था। इस छोटी-सी बात की वजह से 31 मई के स्थान पर 10 मई 1857 को ही क्रांति आरम्भ हो गई थी।

यह घटना उस समय घटी जब जब अंग्रेज अफसरों को मालूम हुआ कि 34 नम्बर की भारतीय पल्टन में भी बगावत भड़क रही है अत: उन्होंने बागी सैनिकों को तुरन्त बर्खास्त कर दिया था। बागी सिपाहियों का कहना था कि 6 मई 1857 को मेरठ छावनी में 90 भारतीय जवानों को चर्बी लगे कारतूस दिये गए थे जिन्हें मुँह से काटकर बन्दूक में भरना था। चूँकि इन कारतूसों में गाय और सूअर की चर्बी लगी थी इसलिए इन फौजियों ने उन्हें लेने से इन्कार कर दिया। फलस्वरूप इन बागियों का कोर्ट मार्शल हुआ जिसमें दस-दस वर्ष की सजा हुई तथा सूबेदार को फाँसी दी गई।

अन्य फौजियों को आतंकित करने के लिए इन बागियों की परेड में सबके सामने वर्दी उतरवा कर हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ पहना-कर धक्के देते हुए जेल ले जाया गया। लेकिन भारतीय सैनिकों पर आतंक के बजाय इसका उल्टा असर पड़ा। लोगों के मन में अंग्रेज फौजी अफसरों के प्रति घृणा और रोष बढ़ गया। लेकिन

क्रांतिकारी सैनिकों के नेताओं ने उन्हें 31 मई तक कोई कदम न उठाने एवं शांत रहने की सलाह दी। उस समय तो यह फौजी खून का घूँट पीकर रह गए।

इसी तरह की बगावत 29 मार्च 1857 को 19 नम्बर पल्टन भी कर चुकी थी जिसमें मंगल पाण्डे ने हथियार सौंपने के बजाय अफसरों पर गोली चला दी थी। उसने कितने ही अंग्रेजों को अपनी गोली का निशाना बनाया और आखिर में एक गोली अपने भी मार ली। इस गोली से वह घायल होकर बेहोश हो गये तब ही अंग्रेजों ने उन्हें गिरफ्तार कर कोर्ट मार्शल किया और 8 अप्रैल 1887 को फाँसी दे दी गई थी। चूँकि बागी नेता इस तरह अलग-अलग बगावत करने के पक्ष में नहीं थे इसलिए वह 31 मई तक रुकने को कहते थे।

लेकिन जिस दिन 34 नम्बर पल्टन के सैनिकों को सजा सुनाई और अपमानित किया गया उससे न केवल फौजी ही बल्कि शहर के लोगों पर भी फिरंगियों की हरकतों का बुरा असर पड़ा।

संयोग से उसी शाम को मेरठ छावनी के कुछ जवान शहर घूमने गये तो वहाँ की महिलाओं ने ताना मारते हुए कहा, "छि: तुम्हारे साथी फाँसी पर लटकाये जा रहे हैं, जेलों में भेजे जा रहे हैं और तुम लोग मौज-मस्ती करते हुए बाजार में घूम रहे हो, तुम्हें शर्म आनी चाहिए।"

इन महिलाओं की बात सुनकर जवान वहीं से छावनी वापस आ गए। वे रात भर बैरकों में गुप्त बैठकें करते रहे। अन्त में तय हुआ कि अब 31 मई तक चुप बैठे रहना सम्भव नहीं है। इसलिए क्रांति 31 मई के बजाय 10 मई को ही आरम्भ कर दी जाय। इस निर्णय की सूचना छावनियों में भेज दी। लेकिन 10 मई की तारीख इतने करीब थी कि और छावनियों के फौजों का

इसमें शरीक हो सकना कठिन था अतः मेरठ छावनी के जवानों ने अकेले ही यह विद्रोह आरम्भ कर दिया।

10 मई 1857 (रविवार) को प्रातःकाल छावनी के घुड़सवारों ने सबसे पहले जेल की दीवार तोड़कर कैदियों को मुक्त करा दिया और फिर शहर में अंग्रेजों को मारना तथा उनके बँगलों को जलाना आरम्भ कर दिया। इतना सब-कुछ करने पर भी भारतीय सैनिकों ने किसी अंग्रेज महिला के साथ बुरा व्यवहार नहीं किया। उसी रात को यह सैनिक मेरठ से दिल्ली के लिए रवाना हो गये।

मेरठ से दिल्ली का 40 मील का रास्ता तय करके 11 मई के प्रातः 'जय जमुना मैया' का उद्घोष करते हुए लाल किले में जा पहुँचे। विप्लवी सैनिकों ने किले पर से अंग्रेजों का झण्डा (यूनियन जैक) उतार कर आज़ादी का हरा झण्डा फहरा दिया। इस समाचार से समूचे देश में खुशी की लहर दौड़ गई। अनेक स्वतंत्रता-प्रेमी राजे-महाराजे अपने दल-बल सहित दिल्ली आ पहुँचे और इन्होंने दिल्ली की सुरक्षा की व्यवस्था मजबूत कर ली। लेकिन इसकी सूचना मिलते ही कुछ अंग्रेजी फौजें मेरठ के रास्ते, कुछ भारी तोपखाने के साथ गुड़गाँव, रोहतक तथा करनाल के रास्ते से दिल्ली की ओर चल पड़ीं।

इन अंग्रेजी फौजों ने 14 सितम्बर 1857 को कश्मीरी गेट की तरफ से हमला किया लेकिन भारतीय तोपों ने अंग्रेजों को दिल्ली की प्राचीर तक नहीं आने दिया। लेकिन कुछ देशद्रोही विश्वासघातियों ने शाम के अँधेरे में किसी दीवार का एक छोटा-सा भाग उड़ा दिया। दीवार गिरते ही अंग्रेज सिपाही टिड्डी दल की तरह अन्दर दाखिल हो गये और इस तरह से 20 सितम्बर 1857 को अंग्रेजों ने पुनः 143 दिन बाद दिल्ली पर कब्जा कर लिया।

दिल्ली के अन्तिम मुगल बादशाह बहादुर शाह जफर, बेगम

जीनत महल तथा एक शाहजादा जवाँबख्त को गिरफ्तार कर लिया। दो शहजादे मिरजा मुगल और मिरजा अखबर सुलतान तथा पोते मिर्जा अबूबकर उस दिन बच गये। लेकिन हडसन ने फिर जाकर उन्हें गिरफ्तार कर लिया। उनके तीनों शहजादों के शवों को जनता को आतंकित करने के लिए चाँदनी चौक में कोतवाली के सामने पेड़ से लटका दिया।

अंग्रेज इतिहासकारों ने स्वीकार किया है कि यदि यह विप्लव एक साथ हुआ होता तो निश्चय ही हिन्दुस्तान में अंग्रेजों का निशान भी नहीं बचता। महिलाओं के उकसाने से 1857 के युद्ध में भले ही सफलता न मिली हो लेकिन यह आजादी के लिए लड़ा गया स्वाधीनता-संग्राम था, जो भारत की स्वाधीनता के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिखा जायगा।

मथुरासिंह की शहादत

महान् क्रान्तिकारी डॉक्टर मथुरासिंह का जन्म सन् 1883 में चकवाल (पंजाब) के एक अच्छे खाते-पीते परिवार में हुआ था उन्होंने अपनी कॉलेज की पढ़ाई के बाद रावलपिंडी से डॉक्टरी पास की और वहीं शान से अपनी प्रेक्टिस शुरू कर दी थी। मेहनत, ईमानदारी तथा सेवा की भावना से आपकी प्रेक्टिस खूब चल निकली और जल्दी ही शोहरत और रुपया दोनों ही कमाने में सफल हो गये। जब आपके पास कुछ पैसा इकट्ठा हो गया तो आप विदेश यात्रा के लिए निकल पड़े।

आप सबसे पहले कनाडा पहुँचे जहाँ अधिकतर व्यापारी पंजाब के रहने वाले ही थे इसलिए आपका वहाँ खूब स्वागत हुआ। उसी समय आपका परिचय दिल्ली निवासी लाला हरदयाल जी एम० ए० से हुआ जो अमरीका में गदर पार्टी के अध्यक्ष थे। अतः आप जुलाई के पहले सप्ताह में ही अमरीका जा पहुँचे और उनके साथ गदर पार्टी के कार्यों में लग गये।

गदर पार्टी के काम से आप शंघाई, जर्मन और अफगान आदि देशों में पहुँचे और वहाँ गदर पार्टी का साहित्य वितरित किया जो हिन्दुस्तान की आजादी के बारे में था। यह काम पूरा करके आप भारत आ गए और गुप्त रूप से यहाँ क्रान्तिकारी लोगों को संगठित करने लगे। आपने एक बम बनाने की फैक्टरी अमृतसर में कायम करा दी।

लेकिन जल्दी ही अंग्रेज़ सरकार को आपकी गतिविधियों का पता लग गया और गिरफ्तारी के लिए दो हज़ार रुपये के इनाम की घोषणा कर दी। इसका पता चलते ही डॉक्टर साहब काबुल के लिए रवाना हो गए और रास्ते में पुलिस को चकमा देकर किसी तरह से काबुल जा पहुँचे।

काबुल पहुँचकर डॉक्टर मथुरा सिंह ने वहाँ की सरकार के अधीन चीफ मेडिकल आफिसर के पद पर शान से काम किया। वहीं पर डॉक्टर साहब की भेंट राजा महेन्द्र प्रताप जी से हुई और वह फिर से गदर पार्टी के कामों में जुट गये।

सन् 1915 में जब अफगानिस्तान में भारत की पहली आजाद सरकार का गठन हुआ तो उसका राष्ट्रपति राजा महेन्द्र प्रताप को और प्रधानमंत्री मौलाना बरकतुल्ला को बनाया गया था। उस सरकार के गठन करने में डॉक्टर साहब का पूरा सहयोग रहा था। जर्मन और अफगान सरकारों ने तो इस आजाद सरकार को मान्यता प्रदान कर दी थी तथा अंग्रेजों के खिलाफ हर तरह से मदद देने का वायदा किया था।

अत: इसी उद्देश्य से जब आप रूस जा रहे थे तो रास्ते में किसी जानने वाले ने विश्वासघात करके आपको ताशकन्द में गिरफ्तार करा दिया। गिरफ़्तारी के बाद आपको ईरान ले जाया गया जहाँ ब्रिटिश सरकार के खिलाफ विद्रोह करने का जुर्म लगाया गया और फाँसी की सजा दे दी गई।

17 मार्च को जब आपको फाँसी के लिए ले जाया जा रहा था तो उस समय आप मस्ती से भारत माता की जय के नारे लगा रहे थे। डॉक्टर साहब ने फाँसी की टिकटी पर पहुँच कर रस्सी के फन्दे को चूमकर ऐसे अपने गले में डाला जैसे कोई फूलों का हार डाल रहा हो। वहाँ के अधिकारी यह देख

कर हैरान हो गए कि आजादी के दीवाने कैसे अपनी कुर्बानी देते हैं।

हमारे देश के ऐसे कितने ही बहादुर शहीद हुए हैं जिन्होंने देश के बाहर रहते हुए भी आजादी की लड़ाई में बहुत बड़ा काम किया है और शान के साथ हँसते हुए कुर्बान हो गये हैं।

शहीदे आजम भगतसिंह

सरदार भगत सिंह के खानदान के खून में कुछ ऐसी खासियत थी कि उस परिवार का कोई भी व्यक्ति परतंत्रता को स्वीकार नहीं करना चाहता था। उनके पिता सरदार किशनसिंह शुरू से ही पंजाब केसरी लाला लाजपतराय के साथियों में से थे और चाचा सरदार अजीत सिंह तथा सरदार स्वर्णसिंह के देश-भक्ति के किस्से तो घर-घर बड़े गर्व से सुने जाते थे।

भगतसिंह का जन्म 13 असौज सम्वत् 1864 (सन् 1907) को बड़ग ग्राम (जिला लायलपुर) में हुआ। इनकी पैदायश के समय पिता और चाचा अंग्रेज़ सरकार की जेलों में थे अतः इनका बचपन माता की निगरानी और दादी के दुलार में बीता। इन्हें साहस निर्भिकता और आन पर मर मिटने की शिक्षा घुट्टी के साथ ही पिला दी गई थी।

प्रारम्भिक शिक्षा के बाद इन्हें डी० ए० बी० स्कूल लाहौर में दाखिल कराया गया। इन्होंने एफ० ए० (1923) भारतीय विद्यालय से पास किया जहाँ प्रधानाचार्य महान देशभक्त भाई परमानन्द जी थे। जब इन्होंने एम० ए० पास कर लिया तो घरवालों ने विवाह के लिए जोर देना शुरू किया। यह दिल्ली चले आये और दैनिक 'अर्जुन' में कार्य करने लगे। थोड़े दिन बाद ही कानपुर श्रद्धेय गणेश शंकर जी विद्यार्थी के पास चले गये। वहाँ साप्ताहिक 'प्रताप' में बलवन्त सिंह के नाम से लिखने

लगे। इनकी प्रतिभा देख विद्यार्थी जी ने इन्हें एक स्कूल में हैड मास्टर लगवा दिया। उसी समय इनका सम्पर्क श्री बी० के० दत्त (बटुकेश्वरदत्त) तथा अन्य क्रान्तिकारियों से हुआ। उन्हें उसी समय माँ की बीमारी की वजह से पंजाब जाना पड़ा।

सरदार भगतसिंह पहली बार बेलगाव कांग्रेस अधिवेशन में शरीक हुए। वहाँ से आने के बाद अमृतसर से निकलने वाले 'अकाली' पत्र का संपादन बलवन्त सिंह के नाम से करने लगे। एक बार वह निजी काम से लाहौर गये तो वहाँ गिरफ्तार हो गये। बड़ी कठिनाई से 6 हजार की जमानत पर छूटे। इसके बाद वह घर से ऐसे गायब हुए कि फिर इनकी गतिविधियों का पता किसी को नहीं चल सका।

इसी बीच लाहौर में साइमन कमीशन के विरोध में शान्ति जुलूस का नेतृत्व करते हुए लाला लाजपत राय जी को साण्डर्स नामक एक अंग्रेज़ सार्जेन्ट ने लाठियों से घायल कर दिया, जिससे 17 नवम्बर 1928 को उनका स्वर्गवास हो गया। इससे उत्तेजित होकर ठीक एक महीने बाद 17 दिसम्बर को साण्डर्स तथा सरदार चाननसिंह को गोली से उड़ा दिया गया। इस काण्ड में पुलिस को भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद तथा सुखदेव के हाथ होने का शक हुआ लेकिन लाख कोशिश करने पर भी पुलिस इन युवकों को नहीं पकड़ सकी।

इसके बाद 4 अप्रैल 1929 को दिल्ली की एसेम्बली में श्री बटुकेश्वर दत्त और भगतसिंह ने एक बम फेंका जिससे वहाँ भगदड़ मच गई। यह लोग चाहते तो उस भगदड़ में शरीक होकर बड़ी आसानी से बच सकते थे। दोनों बहादुर बड़ी शान से वहीं खड़े रहे। बाद में पुलिस ने इन्हें गिरफ्तार कर लिया। मुकदमे के दौरान भगतसिंह ने कहा कि "हमारा उद्देश्य किसी की हत्या

करने का नहीं था। हम अपनी बात सरकार के बहरे कानों तक पहुँचाना चाहते हैं।" इस जुर्म में इन दोनों को आजीवन काले पानी की सजा दी गई।

16 अप्रैल 1929 को लाहौर में काश्मीरी बिल्डिंग में एक बम बनाने की फैक्टरी पुलिस के हाथ लगी। साथ ही सुखदेव तथा उसके दो साथी भी पकड़े गये। लेकिन चन्द्रशेखर आजाद अन्त तक पुलिस के हाथ नहीं आये। वह 27 फरवरी 1931 को अलफ्रेड पार्क (इलाहाबाद) में पुलिस से सीधी टक्कर लेते हुए शहीद हो गये।

इस मुकदमे में दिये गये इन क्रान्तिकारियों के बयान इतिहास की अनुपम निधि बन गये। भगतसिंह ने इसी समय 115 दिन का अनशन व्रत किया जिससे सारा संसार चकित रह गया। लाहौर, षड्यंत्र केस के अभियुक्तों को जल्दी सजा दिलाने के वायसराय लार्ड इर्विन ने एक आर्डीनेंस जारी किया जिसके तहत तीन जजों का एक ट्रिब्यूनल बना। तीन 7 अक्तूबर 1930 को सरदार भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु को फाँसी का हुक्म सुनाया और अक्तूबर में ही फाँसी दी जाने की तारीख घोषित कर दी। आर्डीनेंस की वजह से इसकी अपील नहीं सुनी गई। फाँसी की तिथि निकल जाने और आर्डीनेंस की मियाद खत्म हो जाने के बाद भी जब हाईकोर्ट में फिर अपील की गई तो भी उसे स्वीकार नहीं किया गया। स्वाभिमानी देशभक्तों ने दया की भीख के लिए आवेदन-पत्र पर हस्ताक्षर नहीं किये। लेकिन देश के प्रमुख नेताओं, समाचारपत्रों एवं गांधीजी ने जोरदार शब्दों में फाँसी न देने का अनुरोध किया। अंग्रेज सरकार पर कोई असर नहीं हुआ। 24 मार्च के बजाय 23 मार्च 1931 की रात पौने आठ बजे फाँसी दे दी गई। इन वीर सेनानियों ने 'इन्कलाब जिन्दाबाद' के गगनभेदी नारे लगाये और हँसते हुए फाँसी

के फन्दे को चूमा। इस समय भगत सिंह की आयु 23 वर्ष की थी।

जेल मेनुएल के अनुसार फाँसी का समय सुबह का होता है, लेकिन सरकार डरती थी कि कहीं खबर पाकर जनता काबू से बाहर न हो जाये, इसलिए एक दिन पहले ही रात के अन्धेरे में फाँसी दे दी। रातों-रात 40 मील दूर ले जाकर सतलुज नदी के किनारे लाशों को जला दिया गया। फाँसी से पूर्व घर वालों से अन्तिम मिलाई भी नहीं होने दी जो कानूनन जायज थी तथा मृतक शरीर को भी घर वालों को नहीं सौंपा गया। अंग्रेज सरकार के इस रवैये से भारतीय जनता में विक्षोभ की भारी लहर दौड़ गयी थी।

उस समय भगतसिंह के बाबा सरदार अर्जुन सिंह (80) ने अपने दो लड़कों की कुर्बानी देने के बाद अपने नवयुवक पोते के अमर बलिदान पर गर्व प्रकट किया था।

भगतसिंह के दूसरे साथी श्री सुखदेव खास लायलपुर के रहने वाले थे। आपका जन्म फाल्गुन सुदी 7 सम्वत् 1862 को हुआ था। आपके पिता का स्वर्गवास जन्म से तीन मास पूर्व ही हो गया था। लालन-पालन और पढ़ाई इनके चाचा श्री अनन्त राम जी की देख-रेख में हुई। वे आर्यसमाजी तथा राष्ट्रीय कार्यकर्ता थे। सुखदेव के मैट्रिक पास करने के बाद स्वयं जेल में होते हुए भी उसे लाहौर डी० ए० वी० कालेज में दाखिल होकर उच्च शिक्षा प्राप्त करने का आदेश दिया। लेकिन सुखदेव ने लाहौर जाकर भारतीय विद्यालय में दाखिला लिया। वहाँ भगतसिंह से उनकी भेंट हुई।

उस विद्यालय में इनकी पाँच विद्यार्थियों की एक खास मंडली थी, जिसे लोग 'पंच पाण्डव' कहते थे। इस मंडली के सदस्य भगतसिंह 8 अप्रैल को गिरफ्तार हो चुके थे। सुखदेव,

किशोर लाल तथा प्रेमनाथ 15 अप्रैल 1929 को लाहौर में गिरफ्तार किया गया। सुखदेव को भगतसिंह के साथ ही फाँसी दी गयी।

तीसरे साथी थे श्री शिवराम राजगुरु। इनका जन्म सन् 1909 में पूना के पास खेड़ा ग्राम में हुआ। राजगुरु की उपाधि इनके पूर्वजों को संस्कृत के महान् विद्वान् और पण्डित होने के कारण मिली थी जिसे यह परिवार अपने नाम के साथ लगाता आ रहा था। 6 वर्ष की आयु में इनके पिता का देहान्त हो गया। इन्हें भाई के पास पूना रहना पड़ा। इनका स्वभाव जिद्दी था। पढ़ने में मन नहीं लगता था। एक दिन भाई ने डाँटते हुए कह दिया मन लगाकर पढ़ो नहीं तो घर से निकाल दूँगा।"

अगले दिन वह चौदह वर्षीय बालक घर छोड़कर निकल गया। उस समय उसके पास सिर्फ 9 पैसे थे। वह भूखा-प्यासा, माँगता-खाता किसी तरह पैदल ही नासिक पहुँचा वहाँ संयोग से किसी साधु ने भोजन तो करा दिया लेकिन रात नदी के किनारे घाट पर ही काटनी पड़ी। उसी समय इन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। किसी तरह से यह कहकर छूटे कि मैं यहाँ संस्कृत पढ़ने आया हूँ—आवारा नहीं हूँ। पुलिस के चंगुल से छूटकर घूमते-घामते झाँसी पहुँचे। वहाँ से रेल में बिना टिकट ही कानपुर, लखनऊ और लखीमपुर खीरी होते हुए काशी जा पहुँचे। किसी दयालु सज्जन ने इन्हें एक संस्कृत पाठशाला में दाखिल करा दिया। तब इन्होंने भाई को लिखा कि "मैं काशी में संस्कृत पढ़ने लगा हूँ। भाई यह पढ़कर खुश हुआ और उसने पाँच रुपये महीना भेजना शुरू कर दिया। लेकिन अक्खड़ स्वभाव का यह बालक वहाँ टिक नहीं सका। गुरुजी से अनबन हो जाने पर पढ़ाई छोड़ कर अखाड़े में कुश्ती का शौक पूरा करने लगे। रोटी की समस्या

हल नहीं हो सकी, अतः वहाँ से नागपुर पहुँचे और वहाँ लाठी गदकी सीखने लगे। 1928 में वह फिर कानपुर पहुँचे और क्रान्तिकारियों के दल में शरीक हो गये। इसके बाद इनका नाम लाहौर केस के साथ सुनाई दिया। इन्हें भी 23 मार्च 1931 को ही भगतसिंह के साथ फाँसी दे दी गई।

आजाद हिन्द फौज का गठन

विदेशों से सम्पर्क बनाने का प्रयास पहले भी कितनी ही बार हुआ था। सन् 1857 से कुछ समय पूर्व नाना साहब के वकील अजीमुल्ला खाँ ने इटली से बात करके सहायता के लिए राजी कर लिया था। लेकिन वहाँ से सहायता आने से पूर्व ही यहाँ 1857 का विप्लव ठंडा पड़ गया था।

ऐसा ही एक बड़ा प्रयास 1915 में प्रथम विश्व युद्ध के समय हुआ था, जब भारत के क्रान्तिकारियों ने काबुल में पहुँचकर भारत की अस्थाई सरकार का गठन किया था। इस सरकार के प्रधान मंत्री मौलाना बरकतुल्ला बनाये गये थे और गृहमंत्री का भार रौशनुद्दौला को सौंपा गया था। प्रथम राष्ट्रपति राजा महेन्द्र प्रतापसिंह थे। यह सरकार लगातार 32 वर्ष तक विभिन्न देशों में हिन्दुस्तान की आजादी की अलख जगाने का कार्य करती रही थी। जब भारतीय कांग्रेस की शाखा जापान में 1927 में स्थापित हुई तो राजा महेन्द्रप्रताप ने वहाँ जाकर बड़ा काम किया था।

देश की आजादी के लिए किये गए प्रयत्नों में आजाद हिन्द फौज का नाम विशेष उल्लेखनीय रहेगा। जब 7 सितम्बर 1941 से जापान ने मलाया को हराकर अंग्रेजों की तरफ से लड़ने वाली भारतीय सेना के 70 हजार सैनिकों को गिरफ़्तार कर लिया तो कैप्टिन मोहन सिंह की प्रेरणा से बन्दियों ने मलाया की भारतीय

कांग्रेस की सदस्यता स्वीकार कर ली। इन बन्दियों के साथ जापान सरकार ने अच्छा व्यवहार नहीं किया था। इन बन्दियों ने अपनी मातृभूमि को अंग्रेज़ों से मुक्त कराने की शपथ ली।

कैप्टन मोहन सिंह ने आजाद हिन्द आन्दोलन के नेताओं की एक बैठक बुलाकर छोटी-छोटी संस्थाओं को मिलाकर 'आजाद हिन्द लीग' के नाम से बड़ी संस्था बनाई। इसके अध्यक्ष रास-विहारी बोस बनाये गए। इसका कार्यक्रम भारतीय कांग्रेस के अनुरूप ही रखने का निश्चय किया गया। इसी समय भारत में 'स्वतन्त्र-प्रजातन्त्रीय शासन' का गठन भी किया गया।

दूसरे विश्व युद्ध के शुरू हो जाने से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियाँ बड़ी तेजी से बदलीं। सुभाष बाबू की निश्चित धारणा बन गई थी कि यही अवसर सशस्त्र क्रान्ति के लिए उप-युक्त है अत: वे 26 जनवरी 1941 को पुलिस की कड़ी निगरानी होते हुए भी अपने मकान (कलकत्ता) से अचानक निकल गए। बाद में सुना कि वे जियाउद्दीन के रूप में काबुल पहुँच गये हैं। काबुल से वे जल्दी ही जर्मनी जा पहुँचे।

यहाँ इन्होंने फौजी शिक्षा ली और जियाउद्दीन से 'आर लैन्डो गंज्वोसा' बन गये। वर्लिन से वे टोकियो तक जर्मनी की यू० वोट और जापान की पनडुब्बी से पहुँचे। यह 90 दिन की समुद्री-यात्रा बड़ी ही जान जोखम की थी। जब सुभाष बाबू जून 1943 में टोकियो पहुँचे तो वहाँ इनका भारी स्वागत हुआ। 26 जून 1943 को इन्होंने भारतीय जनता के नाम रेडियो से प्रसारण किया। सुभाष बाबू ने दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों का दोरा करने के बाद 21 अक्टूबर 1943 को स्वतन्त्र भारत की अस्थाई सरकार की स्थापना की घोषणा की। इस अवसर पर नेताजी तथा अन्य मन्त्रियों ने सरकार के प्रति निष्ठा और भारत को आजाद कराने की शपथ ली।

आजाद हिन्द की अस्थाई सरकार नीचे लिखे अनुसार गठित हुई थी—

श्री सुभाष चन्द्र बोस—अध्यक्ष, प्रधान मन्त्री, युद्ध मन्त्री, पर राष्ट्र मन्त्री तथा आजाद हिन्द फौज ने प्रधान सेना पति। डाक्टर (कुमारी) लक्ष्मी स्वामीनाथन—महिला विभाग की प्रधान। श्री एस० ए० अय्यर—प्रकाशन तथा प्रचार। लेफ्टीनेन्ट कर्नल एस०सी० चटर्जी—अर्थ विभाग। आजाद हिन्द सरकार में फौज के प्रतिनिधि सदस्य थे लेफ्टीनेन्ट कर्नल अजीजी अहमद, ले० कर्नल एन० एस० भगत, कर्नल जे० के० भोंसले, ले० कर्नल गुलजारा सिंह, ले० कर्नल एम० जेड कियानी, ले० कर्नल ए० डी० नाथन, ले० कर्नल ईशान कादिर और ले० कर्नल शाह नवाज।

श्री आनन्द मोहन सहाय, श्री रास बिहारी बोस—प्रधान परामर्शदाता थे। इस शपथ समारोह में सात हजार भारतीय उपस्थित थे। आजाद हिन्द सरकार और फौज का प्रधान कार्यालय सिंगापुर से वर्मा को राजधानी माण्डले ले आया गया था। इस अस्थाई सरकार का जर्मनी, जापान, इटली, वर्मा, मलाया, फिलीपीन्स, इण्डोनेशिया, हिन्द चीन, मन्चूरिया, कोरिया आदि ने मान्यता प्रदान कर राजदूतों का आदान-प्रदान भी प्रारम्भ हो गया था। इस अवसर पर जो आजाद सरकार घोषणा-पत्र प्रस्तुत हुआ था उसका उड़ा ही ऐतिहासिक महत्त्व था।

इस प्रेरणादायक घोषणा-पत्र ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में रहने वाले भारतीयों पर जादू का-सा काम किया। प्रवासी भारतीयों ने उदारतापूर्वक मुक्त हस्त से धन दिया जिससे आजाद हिन्द बैंक की स्थापना हुई। सरकार की ओर से 'जयहिन्द' और 'आजाद हिन्द' का प्रकाशन हुआ।

आजाद हिन्द सरकार को स्थापना के तुरन्त बाद ही

24 अक्टूबर 1943 को अमरीका और इंग्लैंड के खिलाफ युद्ध की घोषणा हो गई। इसके लिए सैनिक प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई थी। इसका मुख्य नारा 'दिल्ली चलो' था।

लेकिन अमरीका द्वारा एटम बम फेंके जाने के कारण जापान को आत्म-समर्पण करना पड़ गया। आजाद हिन्द फौज का भविष्य भी अन्धकारमय हो गया। उस समय नेता जी को वहाँ से हवाई जहाज द्वारा निकाला गया था लेकिन बाद में कहा गया कि उस जहाज में (जिसमें नेता जी थे) आग लग गई और नेता जी भी इसी दुर्घटना के शिकार हो गए। लेकिन इस बात को लोग मानने को तैयार नहीं होते हैं।

नेता जी ने 24 अप्रैल 1954 को रंगून छोड़ा और जापान के आत्म-समर्पण के बाद आजाद हिन्द फौज के कितने ही अधिकारी और दो हजार सैनिक गिरफ्तार कर लिए गए। केप्टिन शाह नवाज, प्रेम सहगल और ढिल्लन पर दिल्ली के लाल किले में मुकदमा चला था जिसकी पैरवी पं० जवाहर लाल नेहरू ने स्वयं की थी।

'करो या मरो' का संकेत

मुक्ति-संघर्ष में देश के असंख्य लोगों ने पुलिस के तरह-तरह के अत्याचार सहे, जेल की असहनीय यातनायें भोगीं, सीने पर लाठियाँ और गोलियाँ खाईं, फाँसी के फन्दों को हँसते हुए चूमा तथा फरारी के जीवन में भूखे-प्यासे रहकर विभिन्न प्रकार के ऐसे कष्ट सहे जिन्हें जानकर दिल काँप जाता है।

सन् 1942 में हर वर्ष की तरह हजारी बाग जेल में कैदी दिवाली का पर्व उल्लास से मना रहे थे। एक व्यक्ति जलते हुए दीपकों को थाली में सँजोये आगे-आगे चल रहा था और शेष कैदी गाते-बजाते उसके पीछे जलूस बनाकर चल रहे थे। प्रायः हर त्यौहार पर कैदियों की बैरकें कुछ देर से बन्द करने का रिवाज-सा था। लेकिन उस दिवाली की रात को एक ऐसी अनहोनी घटना घट गई जिसका किसी को गुमान भी नहीं हो सकता था।

उस समय समूचे देश में 'अगस्त-क्रान्ति' की लहर जोरों पर थी। अंग्रेज सरकार भी इसे दबाने के लिये दमन-चक्र पूरे जोर से चला रही थी। इस क्रान्ति का नेतृत्व करने वाले अधिकांश नेताओं को गिरफ्तार करके जेलों में बन्द कर दिया गया था अथवा गोलियों का शिकार बनाया जा रहा था। जेलों में बन्द लोग पिंजरे में बन्द शेर की तरह छटपटा रहे थे। हजारी बाग जेल के राजबन्दी भी एक-दूसरे से प्रश्न कर रहे थे कि—क्या

गाँधी जी के 'करो या मरो' का मंत्र हमें यह संकेत नहीं देता कि इस बार हमें अपनी जान पर खेलकर इस क्रान्ति को सफल बनाना है। हमें जेल में सड़ते रहने की अपेक्षा बाहर निकलकर कुछ करना होगा। यह विचार आते ही एक योजना बनाई गई और उस पर गुप्त रूप से अमल किया जाने लगा। कुछ राज-बंदियों ने जेल से निकलने का प्रयास किया भी लेकिन सफलता नहीं मिली; बल्कि अधिकारियों की सावधानी और बढ़ गई।

कुछ समय पूर्व भागलपुर जेल में उपद्रव हुए थे जिसकी वजह से थोड़ी सख्ती बढ़ गई थी; लेकिन फिर भी कुछ राजबन्दी चोरी-छिपे धोती के सहारे दीवार पर चढ़ने का अभ्यास जारी रखे हुए थे। हजारी बाग जेल का भीतरी भाग तो वार्डरों की गश्त के कारण खतरे से खाली नहीं था, जेल का बाहरी भाग भी बड़ा ही जान जोखम का था। लेकिन आजादी के दीवानों को खतरों से क्या डर था। लोगों ने देख लिया था गश्त में एक वार्डर को लौटकर आने में आठ मिनट का समय लगता है। इसे खूब अच्छी तरह से जाँच लिया था। बस ! यही समय ऐसा था जिसमें कुछ हो सकता था। चूँकि दशहरे और दिवाली पर बैरकें देर में बंद होती थीं इसलिए दिवाली की रात को होने वाले कार्य-क्रम का दशहरे की रात को ही अंतिम रिहर्सल कर लिया गया। अब दीवाली की रात पूर्ण रूप से योजना को अमली जामा पहनाने के लिए निश्चित हो गई थी।

पलक झपकते ही बीस दिन बाद दिवाली की रात भी आ गई। उस दिन शाम से ही जेल अधिकारियों के यहाँ लक्ष्मी-पूजन आदि की धूमधाम होने लगी। कैदी भी अपने ढंग से दीवाली का का जश्न मनाने लगे। बस इस अवसर का लाभ उठाकर छः व्यक्ति जेल की प्राचीर के निकट जा पहुँचे। यह दीवार 17 फुट ऊँची थी, इसलिए एक-दूसरे के कन्धे पर होकर एक व्यक्ति ऊपर

दीवार पर जा पहुँचा। यह पहले व्यक्ति दुबले-पतले और बीमार से दिखने वाले जयप्रकाश नारायण थे। उन्होंने दीवार पर पहुँच-कर नीचे को धोती लटका दी और शेष पाँचों व्यक्ति भी जल्दी-जल्दी ऊपर चढ़ गये इसी प्रकार यह छहों व्यक्ति सकुशल नीचे उतरकर अमावस के अन्धेरे में विलीन हो गये। यह छः व्यक्ति. जयप्रकाश बाबू के अतिरिक्त सर्वश्री सालिगराम, सूरज नारायण सिंह रामनन्दन मिश्र, योगेन्द्र शुक्ल तथा गुलाली जी थे। इनके जूते-चप्पल, पैसे और थोड़ा-बहुत खाने की पोटली चढ़ते समय पीछे ही छट गई थी इसलिए नंगे पैर ही कंकरीले-पथरीले और काँटो भरे जंगली रास्ते में रात-भर चलते रहे। यह लोग भूखे-प्यासे निराहार किसी ऐसे सुरक्षित स्थान पर पहुँच जाना चाहते थे, जहाँ कुछ सुस्ताकर दो घूँट पानी पी सकें। टाँगें भी जवाब दे चुकी थीं ओर चमचमाती सड़कों पर चलने वाले पैरों के तलुए भी लोहू-लुहान हो गये थे। आखिर चार दिन की निराहार यात्रा के बाद इन्हें जंगल में छोटे-छोटे झरबेरी के बेर खाने को मिले। बड़ी मुश्किल से पाँचवें दिन वे लोग अपने निर्जीव शरीरों को लिये गया शहर में एक मित्र के यहाँ पहुँचे।

अब यह लोग जेल से बाहर तो आ गए लेकिन अब प्रश्न आगे के कार्यक्रम को चलाने का था। अंग्रेज सरकार की सी० आई० डी० देश भर में लगी हुई थी इसलिए नेपाल के लिए भेष बदलते हुए रवाना हो गये। वहाँ पहुँचकर एक घने सुरक्षित जंगल में अपना डेरा जमा लिया। यहाँ इन्होंने 'आजाद हिन्द दल' की स्थापना की और अपना कार्य आरम्भ कर दिया। लेकिन जब इस दल की गतिविधियों की जानकारी वहाँ की सरकार को लगी तो उसने जयप्रकाश बाबू और उनके साथियों को गिरफ्तार कर लिया।

जैसे ही इस गिरफ्तारी की खबर भारत की सरकार को

लगी उसने नेपाल सरकार से इन बंदियों की माँग शुरू कर दी। लेकिन जब तक कुछ निर्णय हो एक रात को नेपाल की जेल के पास झोंपड़ियों में आग लग गई। जेल के वार्डर और अधिकारी जब आग बुझाने में लगे तो यह शेर पिंजरे से बाहर हो गये। अब की बार जेल से आने पर इन्होंने बिहार और उत्तर प्रदेश में संगठन मज़बूत करने का काम शुरू कर दिया लेकिन जिस तरह ऊँट की चोरी झुके-झुके नहीं हो सकती है उसी तरह इनका छिप-कर कहीं आना-जाना या रह सकना कठिन था।

आखिर जब वे एक दिन 17 सितम्बर 1943 को दिल्ली से पेशावर जा रहे थे तो रात तो किसी तरह ट्रेन में बीत गई लेकिन दिन में जब ट्रेन अमृतसर के स्टेशन पर रुकी तो पुलिस आ धमकी। एक अंग्रेज अफसर ने इनका नाम पूछा तो इन्होंने एस० पी० मेहता और बम्बई का व्यापारी बताया। लेकिन पुलिस ने इनकी बारीकी से तलाशी ली। यद्यपि इनके पास कोई आपत्ति-जनक वस्तु नहीं मिली फिर भी गिरफ्तार करके लाहौर किले में बन्द कर दिया।

लाहौर के किले में जयप्रकाश जी पर क्या-क्या बीती यह कल्पनातीत है। 16 महीने उन्होंने चौबीसों घंटे हथकड़ियाँ पहने बिताये। एक दिन भी वे सुख की नींद नहीं सो सके। इन अत्याचारों के विरोध में उन्होंने अनशन भी किया। जयप्रकाश बाबू के छुड़ाने के लिए गांधी जी ने भी वायसराय को लिखा। लेकिन वे इन्हें बहुत ही खतरनाक मानते थे। अन्त में जब अन्तरिम सरकार बनाने के लिए केबिनेट मिशन भारत आया तब आप डॉ० राम मनोहर लोहिया के साथ आगरा जेल से 16 अप्रैल 1946 को छोड़े गये।

इन्होंने देश के लिए हर प्रकार की आहुतियाँ देकर, अकल्प-नीय कष्ट सहे और देश के 'मुक्ति-संघर्ष' की ज्योति को जगाये

रखा। आजादी मिलने के बाद भी वे सत्ता की राजनीति से दूर रहे। उनका विश्वास था कि 'दलगत राजनीति' से कुछ होने वाला नहीं है। जो ऐसी आशा रखते हैं वे सूखी हड्डियों को चूस कर अपने ही रक्त से ही तृप्त हो रहे हैं।

उन्होंने नई पीढ़ी को एक ऐसी विचार-धारा और दिशा दी है, जिससे समाज और राष्ट्र को नई चेतना मिलती रहेगी।

□□